॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कल्याण

वर्ष ६०
संख्या १

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, सितम्बर १९८९

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.२५ रु० विदेशमें १५ पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य भारतमें ३०.०० रु० विदेशमें ८०.०० रु० (५ पौण्ड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्द-भवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
(भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित)

मर्यादा पुरुषोत्तम राघव जानकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
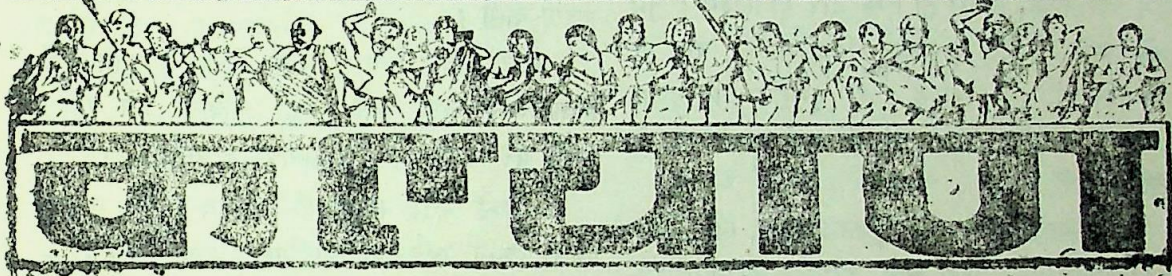
चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

वर्ष ६० } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, सितम्बर १९८६ई० { संख्या ९ पूर्ण संख्या ७१८

भगवान् श्रीसीताराम

सुंदर सीतासमेत सोभित करुनानिकेत,
सेवक सुख देत, लेत चितवत चित चोरी ।
बरनत यह अमित रूप थकित निगम, नागभूप,
तुलसिदास छबि बिलोकि सारद भइ भोरी ॥
(गीतावली उ० का० ७ । ७)

सुन्दरी सीताके सहित शोभायमान करुणाधाम भगवान् राम अपने सेवकोंको सुख देते हैं और अपनी दृष्टि डालते ही चित्तको चुरा लेते हैं । तुलसीदासजी कहते हैं कि इस अमित रूपका वर्णन करते-करते श्रुति और शेषजी भी थकित हो गये हैं तथा इनकी छबिको देखकर शारदाकी बुद्धि भी चकित हो गयी है ।

कल्याण

किसीसे भी घृणा मत करो; क्योंकि घृणासे भय, द्वेष, क्रोध और हिंसा आदि महान् दोष उत्पन्न होते हैं, जो दूसरोंका बुरा करनेसे पहले तुम्हारा ही बुरा करते हैं। किसीका भी अहित न चाहो, किसीके भी पतनकी चाह न करो, किसीको भी दुःखी देखनेकी इच्छा मत करो। ऐसा करोगे तो उनका तो कुछ होगा या नहीं—पता नहीं, किंतु तुम्हारा अहित, तुम्हारा पतन और तुम्हें दुःख-लाभ अवश्य हो जायगा।

किसीकी निन्दा मत करो, किसीके भी दोष न देखो, न किसीमें दोषका आरोप ही करो। याद रखो—जगत्‌में दोष-गुण दोनों ही होते हैं। तुम दोष ही ढूँढ़ने और देखने लगोगे तो तुम्हें दोष ही मिलेंगे। तुम अपने मनमें जैसा कुछ सोचते-विचारते हो, वैसा ही तुम्हें प्रतिफल प्राप्त होता है। जो दूसरोंके प्रति घृणा, भय, द्वेष, वैर और डाह रखते हैं, उन्हें दूसरोंसे ये ही वस्तुएँ मिलती हैं।

चिढ़ो मत, ऊबो मत, झुँझलाओ मत, खीझो मत, अहंकारके भाव न मनमें आने दो और न जीभपर। ऐसा कर सको तो याद रखो—तुम्हारे बहुत-से दुःख और संकट अपने-आप ही दूर हो जायँगे।

यह आशा मत करो कि सब तुम्हारी ही बात मानें, तुम्हारे ही मतका समर्थन करें, तुम्हारे ही आज्ञाकारी बनें और तुम्हारे प्रत्येक कार्यकी प्रशंसा ही करें। जब तुम दूसरोंके लिये ऐसा नहीं कर सकते, तब दूसरोंसे ऐसी आशा क्यों कर सकते हो? करोगे तो निराशा, दुःख, अपमानबोध और विपद्‌के सिवा और कुछ भी हाथ न लगेगा।

धीरज रखो, शान्त रहो और जहाँतक बने सहनशील बनो। जगत् भगवान्‌की विचित्र मायाका विचित्र कार्य है। पता नहीं, इसमें क्या-क्या भरा है। तुम्हारी अपनी छोटी-सी दुनिया है, तुम उसीमें विचरते हो, परंतु ऐसी अनन्त दुनिया भगवान्‌के इस विश्वमें हैं; क्योंकि विश्वमें अनन्त प्राणी हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो बात बुरी है, अनहोनी है, असम्भव है, वही बात दूसरोंकी दृष्टिमें अच्छी, अवश्यम्भावी और सर्वथा सम्भव है। नयी बात—अपनेसे विपरीत अनोखी वस्तु देखकर उससे द्वेष न करो। भगवान्‌की अनन्त महिमा देख-देखकर प्रसन्न होओ।

भगवान् अनन्त हैं, एकमात्र भगवान् ही सब कुछ हैं—भगवान्‌से अतिरिक्त, भगवान्‌से बाहर और भगवान्‌से परे कुछ है ही नहीं; ऐसी स्थितिमें जो कुछ भी है, होता है, सब भगवान्‌में ही है और होता है। फिर खण्डन-मण्डन कैसा? मतका आग्रह कैसा? और लड़ाई कैसी?

मनमें दोषके विचार, व्यर्थ विचार आते ही उन्हें निकालनेकी चेष्टा करो। सदा चौकन्ने बने रहो। मनके बुरे विचार ही बुरे कार्योंकी जन्मभूमि हैं।

अपनेको सदा सत्कार्योंमें लगाये रखो। तुम्हारे मनको कभी अवकाश ही नहीं मिलना चाहिये—असत्‌का विचार भी करनेके लिये। मनके सामने सदा इतने सद्विचार और सत्-कार्य रखो कि एकके पूरा होनेके पहले ही दूसरेकी चिन्ता उसपर सवार रहे। निकम्मा मन ही प्रमाद करता है।

सदा भगवच्चिन्तन करो, सदा सबका भला चाहो और भला देखकर प्रसन्न रहो। किसी भी दलविशेषमें मत मिलो। जहाँतक बने, मनको एकान्तमें मौन रखनेकी चेष्टा करो।

मन एकान्त—मौन न हो सके तो भगवान्‌से प्रार्थना करो। उन्हें नित्य अपने सामने, अपने अत्यन्त समीप, अपने ही अंदर निश्चयरूपसे जानकर उनके सामने रो पड़ो। उनसे भीख माँगो शक्तिकी, सत्—पावन अनन्य प्रेमकी! मनसे ऐसा करते रहोगे तो थोड़े ही दिनोंमें निहाल हो जाओगे।

—'शिव'

मनोबोध—५

(समर्थ स्वामी रामदासजी महाराजकी वाणी)

(अगले श्लोकोंमें मनको रामपदमें रहने-हेतु श्रीरामसमर्थ कहते हैं—)

मना प्रार्थना तूजला येक आहे ।
रघूराज थकीत होऊनि पाहे ॥
अवज्ञा कदा हो येदर्थी न कीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥ ३८ ॥

हे मन ! तुमसे एक प्रार्थना है कि तुम श्रीरघुराज श्रीरामके सौन्दर्यको विस्मित होकर प्रतिपल देखा करो । इस विषयमें मेरी अवज्ञा कभी मत करो । हे मन ! श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंमें ही निरन्तर रमा करो । रामरूपमें अपना डेरा डाल दो ।

जया वर्णिती वेद शास्त्रें पुराणें ।
जयाचेनि योगें समाधान बाणे ॥
तयालागि हें सर्व चांचल्य दीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥ ३९ ॥

जिनका वेद, शास्त्र और पुराण वर्णन करते हैं, जिनसे संयोग होते ही चित्तमें समाधानी वृत्ति जागती है, उन अचलके चरणोंमें सब चञ्चलता अर्पण कर दो । हे सज्जन मन ! श्रीराम-चरणमें वास करो ।

मना पाविजे सर्व ही सूख जेथें ।
अती आदरें ठेविजे लक्ष तेथें ॥
विवेकें कुडी कल्पना पालटीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥ ४० ॥

हे सज्जन मन ! जो अक्षय सुखका भण्डार है, जहाँ सब प्रकारके सुख मिलते हैं, वहीं आदरपूर्वक ध्यान रखो । सारासारके विवेकद्वारा 'मैं देह हूँ', इस भावनाको बदल दो तथा रामचरणोंमें रहा करो ।

(तुलसीदासजी भी अपने मनको रामचरणोंमें रहनेको कहते हैं—**'तुलसी मन मधुकर पन करि रघुपति चरन कमल बसैहौं ।'**)

बहू हिंडतां सौख्य होणार नाहीं ।
शिणावें परी नातुडे हीत कांहीं ॥
विचारें बरें अंतरा बोधवीजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥ ४१ ॥

बहुत भटकनेसे कुछ भी सुख नहीं होगा । कितना ही थक जाओ, किंतु कुछ भी हित नहीं होगा; अतः विवेकद्वारा मनको बोध दो—हे मन ! श्रीराघवजीके चरणोंमें उन्हींके रूपमें रहा करो ।

बहुतांपरी हें चि आतां धरावें ।
रघूनायेका आपुलेंसें करावें ॥
दिनानाथ हें तोडरीं ब्रीद गाजे ।
मना सज्जना राघवीं वस्ति कीजे ॥ ४२ ॥

अब हर तरहसे यही करो कि श्रीरघुनायकजीको अपना लो, वे दीनोंके नाथ हैं—ऐसा उनका **'ब्रीद'** (प्रण) तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है, अतः **हे मन !** श्रीराघवजीमें ही रहा करो ।

मना सज्जना येक जीवीं धरावें ।
जनीं आपुलें हीत तूंवां करावें ॥
रघूनायेकावीण बोलों नको हो ।
सदा मानसीं तो निजध्यास राहो ॥ ४३ ॥

हे मन ! एक बात मनमें धारण करो कि जगत्में स्वहित-साधन करना है तो रघुनाथजीके विना कुछ बोलूँगा ही नहीं । श्रीरामचन्द्रका ही मनमें निरन्तर ध्यान लगा रहे ।

मना रे जनीं मौन्यमुद्रा धरावी ।
कथा आदरें राघवाची करावी ॥
नसे राम तें धाम सोडून द्यावें ।
सुखालागि आरण्य सेवीत जावें ॥ ४४ ॥

हे मन ! समाजमें मौन धारण करना चाहिये । रामकथा आदरपूर्वक करनी चाहिये । जिस घरमें रामका

वास न हो, उसे त्याग देना चाहिये तथा सुखके लिये वनका सेवन करना चाहिये।

(जिस घरमें रामभक्त न रहता हो, उसे त्यागकर वनवास ग्रहण कर लेना चाहिये। इसीमें सुख होता है। इस श्लोकमें गोस्वामी तुलसीदासजीके **'जाके प्रिय न राम बैदेही। सो छाँड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥'**—इन शब्दोंके भावका प्रतिबिम्ब उभरा हुआ दीखता है। उपर्युक्त श्लोकमें क्या ही सुन्दर भाव-व्यञ्जना है, यह दर्शनीय है।)

जयाचेनि संगें समाधान भंगे।
अहंता अकस्मात येऊनि लागे॥
तये संगतीची जनीं कोण गोडी।
जये संगतीनें मती राम सोडी॥ ४५॥

जिसकी संगतिसे चित्त-शान्ति नष्ट होती हो और अहंकारभावना अचानक ही मनमें बढ़ती हो तथा जिस संगतिसे बुद्धि श्रीरामको छोड़ देती हो, उस संगतिके लिये मनुष्यको क्या रुचि हो सकती है? अर्थात् उस संगतिमें रुचि नहीं होनी चाहिये। (इस श्लोकमें कैमुत्य-न्यायसे सकारात्मक भाव दिखाते हुए नकारात्मक उत्तर आलंकारिक रीतिसे चाहते हैं। इस श्लोकका सौन्दर्य साहित्यिक दृष्टिसे भी द्रष्टव्य है।)

मना जे घडी राघवेंवीण गेली।
जनीं आपुली ते तुवां हानि केली॥
रघूनायेकावीण तो सीण आहे।
जनीं दक्ष तो लक्ष लाऊनि पाहे॥ ४६॥

जिस घड़ीमें श्रीरामका चिन्तन नहीं हुआ, वह व्यर्थ बीत गयी। इसीमें तुमने अपनी हानि कर ली। रघुनाथके बिना जो कर्म किया जाता है, वह व्यर्थ परिश्रममात्र है। (उससे यश नहीं मिलता।) समाजमें जो दक्ष होता है, वह ध्यान देकर देखता है।

मनीं लोचनीं श्रीहरी तो चि पाहे।
जनीं जाणता भक्त होऊनि राहे॥
गुणीं प्रीति राखे क्रमू साधनाचा।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा॥ ४७॥

जो मनके नेत्रसे श्रीहरिको ही देखता है, वह समाजमें ज्ञानी भक्त होकर रहता है। (ज्ञानी भक्त और समाजमें रहनेके कारण दूसरोंके गुणोंसे प्रेम—इस अर्थसे) जो श्रीरामजीके सगुण रूपमें प्रेम रखता है तथा साधन और नित्य भगवत्सेवाके कर्मोंमें अपना समय बिताता है, वह सगुण प्रेमी, ज्ञानी और सर्वोत्तम श्रीरामजीका दास जगत्में धन्य है। (श्रीसमर्थ सद्गुरु स्वयं ही इसके आदर्श हैं। वे ज्ञानी भक्त होनेके साथ-साथ दूसरोंके सद्गुणोंसे प्रेम भी रखते थे और स्वयं श्रीरामजीके सगुण रूपके प्रेमी थे। उनके आराध्य महाराज दशरथके धनुर्धारी पुत्र श्रीराम थे।)

सदा देवकार्जीं झिजे देह ज्याचा।
सदा रामनामें वदे नित्य वाचा॥
स्वधर्में चि चाले सदा उत्तमाचा।
जगीं धन्य तो दास सर्वोत्तमाचा॥ ४८॥

जिसका शरीर सदा देवकार्यमें लगा रहता है, जो सदा रामनामका उच्चारण करता रहता है, स्वधर्मका निष्ठापूर्वक पालन करता हुआ उत्तम भक्तिमार्गपर चलता है, वह सर्वोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दास जगमें धन्य है। (यहाँ अपने कर्तव्यका पालन—ऐसा अर्थ है। हिंदू, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मविशेषका तात्पर्य इस धर्म शब्दसे नहीं है। इस श्लोकके धर्म शब्दका अर्थ भगवद्गीताके **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'**—का भाव धारण करता है। यह विशेष ज्ञातव्य है।)

(अनु०—कु० रोहिणी गोखले)

—क्रमशः

सद्गुण-सदाचार—२

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

'सत्'—यह परमात्माका ही स्वरूप है, उसीका नाम है।

जो पुरुष सत्के तत्त्वको जानता है, वह परमात्माको जानता है।

जो सत् है, वही नित्य है, वही अमृत है।

सत्के तत्त्वका ज्ञाता मृत्युको जीत लेता है तथा शोक और मोहको लाँघकर निर्भय हो नित्य परमधाममें जा पहुँचता है।

सत्का ज्ञाता सदाके लिये अभय—अमृतपदको प्राप्त हो जाता है।

सत्य उसका नाम है, जिसका किसी कालमें बाध नहीं होता, जो नित्य एकरस, सदा-सर्वदा सब जगह समभावसे स्थित है और जो स्वतः प्रमाण है।

'सत्' एक विज्ञान-आनन्दघन चेतन परमात्मदेव ही है।

विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा सत्य है, इसलिये उसका नाम भी 'सत्' कहा गया है।

सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। सत्यकी ही प्रतिष्ठासे सूर्य तपता है और वायु बहती है।

बिना सत्यके किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती।

स्वार्थको त्यागकर सत्स्वरूप परमात्माके निमित्त किया हुआ प्रत्येक कर्म लोक और शास्त्रमें सत्कर्मके नामसे ही विख्यात है।

कपट, शब्द-चातुरी और कूटनीतिको छोड़कर हिंसा-वर्जित सरलताके साथ जैसा देखा, सुना और समझा हो, उसे वैसा-का-वैसा—न कम, न अधिक—कह देना सत्य-भाषण है।

सत्यका पालन करनेवालेको स्वयं कभी झूठ न बोलना चाहिये और न किसीको प्रेरित करके बुलवाना चाहिये।

जो दूसरेको प्रेरणा करके अथवा उसपर दवाव डालकर उससे झूठ बुलवाता है, वह स्वयं झूठ बोलनेकी अपेक्षा गुरुतर मिथ्या-भाषण करता है; क्योंकि इससे झूठका प्रचार अधिक होता है।

किसी झूठ बोलनेवालेसे सहमत भी नहीं होना चाहिये। उस समय मौन साधे रहना भी एक प्रकारसे झूठ ही समझा जाता है।

सत्यका पालन करनेवालेको जहाँतक बन पड़े, किसीकी निन्दा-स्तुति नहीं करनी चाहिये।

सत्यका पालन करनेवालेको यथासाध्य भविष्यकालकी क्रियाओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सत्यका पालन करनेवालेको किसीको शाप या वर नहीं देना चाहिये। इससे तपकी हानि होती है।

सत्यका पालन करनेवालेको किसीके साथ हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये।

सत्यका पालन करनेवालेको व्यङ्ग और कटाक्षके वचन भी नहीं बोलने चाहिये।

सत्यका पालन करनेवालेको जिसमें शब्दोंसे तो कोई बात सत्य हो, परंतु उसका आन्तरिक अभिप्राय विपरीत हो, ऐसे शब्द-चातुरीके वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

सत्यका पालन करनेवालेको मितभाषी बनना चाहिये अर्थात् गम्भीरताके साथ विचारकर यथासाध्य बहुत कम बोलना चाहिये।

सत्यका पालन करनेवाले मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, द्वेष, ईर्ष्या और स्नेह आदि दोषोंसे बचकर बचन बोलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सत्य बोलनेवाले पुरुषको हिंसा और कपटसे भलीभाँति सावधानी रखनी चाहिये।

जिस सत्य-भाषणसे किसीकी हिंसा होती हो तो वह सत्य सत्य नहीं है।

जिस सत्यमें कपट होता है, वह सत्य सत्य नहीं समझा जाता।

हिंसा और कपट—ये दोनों ही सत्यमें कलंक लगानेवाले हैं।

जो सत्यका अच्छी तरह अभ्यास कर लेता है अर्थात् जिसकी सत्यमें सर्वाङ्ग-प्रतिष्ठा हो जाती है, उसकी वाणी सत्य हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कहता है, वह सत्य हो जाता है।

जो सर्वथा सत्यको जीत लेता है, वह क्षमाशील होता है और क्रोधके वशीभूत नहीं होता।

क्रोधी मनुष्य सत्यके पालनमें सर्वथा असमर्थ रहता है; क्योंकि क्रोधोन्मादमें वह क्या-क्या नहीं बक बैठता।

सत्य-पालनके प्रभावसे मनुष्यमें निरभिमानता आ जाती है।

मान और प्रतिष्ठाकी जहाँ इच्छा होती है, वहाँ दम्भ और कपटको आश्रय मिल जाता है और बस, जहाँ इन्होंने प्रवेश किया, वहाँसे सत्य तत्काल कूच कर जाता है।

निःसंदेह कपटी और दम्भीका सत्यसे स्खलित हो जाना अनिवार्य है।

सत्यवादीमें किसी प्रकारकी इच्छा या कामना नहीं रहती।

सत्यके सम्यक् पालनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या और अहङ्कार आदि दोषोंका नाश हो जाता है और वह मनुष्य एक सत्यके ही पालनसे दया, शान्ति, क्षमा, समता, निर्भयता आदि सम्पूर्ण गुणोंका भण्डार बन जाता है।

जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है, उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है।

'सत्' परमेश्वरका नाम है, अतः उसे प्राप्त करवानेवाले भाव और व्यवहार ही सद्भाव और सद्व्यवहार हैं।

सद्व्यवहारको ही सदाचार कहते हैं।

अमानित्व (मानका न चाहना), क्षमा (अपने साथ किये गये अत्याचारोंका बदला न चाहना), कोमलता, सरलता, पवित्रता, शान्ति, शीतलता, समता, वैराग्य, श्रद्धा, दया, उदारता, सुहृद्ता आदि सद्भाव हैं।

सदाचारमें सद्भाव ही हेतु हैं; क्योंकि जैसा आन्तरिक भाव होता है, वैसी ही बाहरी चेष्टा होती है।

सद्भावोंसे सम्पन्न पुरुषका यदि कोई व्यक्ति अनिष्ट कर देता है तो वह यही समझता है कि यह मेरे पूर्वकृत कर्मोंके फलसे हुआ है, यह तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानकर वह किसीसे द्वेष या घृणा नहीं करता, अपितु अवसर पड़नेपर उसके हृदयसे संकोच, ग्लानि, भय और द्वेषको दूर करनेकी ही चेष्टा करता है।

सद्भावसे सम्पन्न पुरुष सारे जगत्में अपने परम प्रिय स्वामी परमात्माका स्वरूप देखता है और मन-ही-मन सबको प्रणाम करता हुआ सबके साथ सद्व्यवहार करता है।

'हमारे लिये क्या करना उचित है और क्या अनुचित है' यह बात आप अपने हृदयस्थ परमात्मासे यदि जानना चाहेंगे तो वह न्यायकारी प्रभु आपके हृदयमें सत्प्रेरणा ही करेंगे।

जब कोई व्यक्ति सद्भावसे अन्तरात्मासे परामर्श लेता है तब उसे पवित्र आत्माद्वारा सत्परामर्श ही प्राप्त होता है।

भगवत्प्राप्त पुरुषोंमें तो सत्यका आचरण स्वाभाविक ही होता है।

अज्ञान और राग-द्वेष सदाचारके लिये परम विघातक हैं। अतः साधकको इनसे अच्छी तरह बचकर रहना चाहिये।

सदाचारी मनुष्यको सत्य और असत्यके विषयमें शास्त्र और साधु पुरुषोंकी सहायतासे अपनी बुद्धिद्वारा निर्णय करके सत्यका आचरण करना चाहिये।

आत्म-सुधारकी कामनावाले पुरुषको इस बातका पद-पदपर ध्यान रखना चाहिये कि कहीं मैं स्वार्थके चंगुलमें फँसकर आचरण-भ्रष्ट न हो जाऊँ।

अर्थकी कामना मनुष्यको सब विषयोंका दास बनाकर श्रेय-मार्गसे तत्काल गिरा देती है।

मनमें स्वार्थके प्रवेश कर जानेसे सदाचार भी दुराचारके रूपमें परिणत हो जाता है।

स्वार्थ बड़ा ही प्रबल है, इसका ऐसा विस्तार और प्रसार है कि यह पद-पदपर व्याप्त है। इसीलिये सावधान होनेपर भी मनुष्यको धोखा हो जाता है।

स्वार्थसे बचने, स्वार्थका समूल नाश करनेके लिये मनुष्यको सतत सावधानीसे प्रयत्न करते रहना चाहिये और बार-बार अन्तर्वृत्ति करके देखना चाहिये।

रागकी भाँति द्वेष भी मनुष्यका परम शत्रु है।

द्वेषका मूल कारण वास्तवमें राग या आसक्ति ही है।

आसक्तिरहित पुरुषकी प्रत्येक क्रिया स्वार्थहीन होती है, इससे उसके हर एक आचरणमें प्रेम और दयाका भाव विकसित हुआ रहता है।

सत्य एक ऐसी वस्तु है, जिसका आश्रय लेनेसे सम्पूर्ण उत्तम गुणोंकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है।

सत्यका आश्रयी सत्पुरुष सद्गुणोंका समुद्र और ज्ञान-का भण्डार बन जाता है। सत्यका पालन करनेवाले पुरुषको निर्भयतासे अपने लक्ष्यपर डटे रहना चाहिये।

यदि मनुष्य प्राणोंकी भी परवा न करके सत्यपर डटा रहेगा तो सभी आपत्तियाँ देखते-ही-देखते आप ही नष्ट हो जायँगी और अन्तमें उस सत्यकी विजय होगी।

सत्यके लिये प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं है। वह तो स्वयं स्वतः प्रमाण है।

सत्यको जरा भी आँच नहीं आती, अपितु वह जितना ही कसौटीपर कसा जाता है, जितना ही तपाया जाता है, उतना ही उज्ज्वल रूप धारण करता रहता है।

जो ताड़नासे, तापसे मिट जाय, वह सत्य ही नहीं है।

जो सत्य-पालनका थोड़ा-सा भी महत्त्व समझ गया है, उससे सत्यका त्याग होना कठिन है, फिर जिन्होंने इसके तत्त्वका सम्यक् परिज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे कैसे विचलित हो सकते हैं ?

केवल एक सत्यका तत्त्व जान लेनेपर मनुष्य सब तत्त्वोंका ज्ञाता बन जाता है; क्योंकि सत्य परमात्माका स्वरूप है।

मन, वाणी और इन्द्रियोंके द्वारा एकमात्र सत्यकी शरण लेनी चाहिये।

सत्य सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। अन्वेषण करनेपर सर्वत्र सत्यकी ही प्रतीति और अनुभूति होने लगेगी।

सम्पूर्ण संसारका अस्तित्व सत्यपर टिका हुआ है, इसके बिना किसी भी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती।

कल्याणकामी बन्धुओंको प्राणोंसे भी बढ़कर सत्यका आदर करना चाहिये और उसके पालनार्थ कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये।

अपनेसे बड़े-बूढ़े जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं है। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे।

दुःखी जीवोंका किसी प्रकारसे भी हित हो, ऐसे विशुद्ध भावका नाम दया है।

शास्त्रोंके ज्ञाता और गीताकथित ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मण सब प्रकारसे दानके पात्र हैं।

गीताकथित भक्तके लक्षणोंसे युक्त भगवान्‌के प्यारे पुरुष ही वास्तवमें सर्वथा सुपात्र साधु हैं।

सुपात्र मनुष्य वही है, जिसमें दैवी-सम्पदाके गुण विकसित हों।

बीमारी आदिके लिये किसी भी जीवकी हिंसा करनेवाले, बतलानेवाले और हिंसासे मिली हुई वस्तु काममें लानेवाले तीनों ही आसक्ति और स्वार्थ होनेके कारण पापके भागी होते हैं।

आसक्ति और स्वार्थको त्यागकर सत्पात्रको जो दान दिया जाता है, उसमें देने और लेनेवाले दोनोंको ही परम धर्म लाभ होता है।

स्वार्थबुद्धिसे लेनेवाले सुपात्रका पुण्य-क्षय होता है और कुपात्रको नरककी प्राप्ति होती है।

स्वार्थबुद्धिसे सुपात्रके प्रति दान देनेवालेको पुण्य और कुपात्रके प्रति देनेवालेको पाप होता है।

मृत्युका कोई पता नहीं—कब आ जाय, इससे मनुष्यको सदा-सर्वदा उत्तम कर्मोंमें ही लगे रहना चाहिये।

प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी संध्या ठीक समयपर करनी चाहिये, समयपर की हुई संध्या बहुत ही लाभदायक होती है।

स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर संध्या करनेवाले पुरुषके धर्म-तेजकी वृद्धि जरत्कारुके समान हो सकती है।

वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया है, अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये।

कम-से-कम प्रातः और सायं गायत्रीके एक सौ आठ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्‌की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका संचय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये; क्योंकि गृहस्थमें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है, वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

मनुष्यको सब समय भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये (गीता ८।७)।

परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है, अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्त्तव्य-कर्मद्वारा उन्हें सुख

पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये (गीता १८ । ४६) ।

अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये ।

सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं, अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाको त्यागकर सबके साथ निःस्वार्थभावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मननके द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपने आत्माको उन्नत बनाना चाहिये ।

सत्संगकी बातें सुननेसे जो असर होता है, वह पाँच मिनटके कुसंगसे कम हो जाता है; क्योंकि कुसंग पाते ही पूर्वके कुविचार जग उठते हैं, इसलिये कुसंगका सर्वथा त्याग करे ।

बुरे कर्म करनेवालोंकी दुर्गति होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है, बुरे कर्म करनेवालोंका जो चिन्तन करते हैं, उनकी भी हानि होती है । व्यभिचारीको याद करनेसे कामकी जागृति होती है ।

स्वार्थको छोड़कर दूसरेके हितके लिये चेष्टा करनी, यही उसे प्रेममें बाँधनेका उपाय है ।

दूसरेको सुख पहुँचाना ही उसे अपना बना लेना है । अपना तन, मन, धन जो कुछ दूसरेके काममें लग जाय वही सार्थक है, शेष तो सब व्यर्थ जाता है । जो इस बातको ध्यानमें रखकर चलता है, उसे कभी पछताना नहीं पड़ता ।

काम, क्रोध तभीतक रहते हैं, जबतक अज्ञान है । अज्ञानरूप कारणका नाश हो जानेपर कामादि कार्य नहीं रह सकते ।

मनुष्यको अपने दोषोंपर विचार करना चाहिये । दोषोंपर ध्यान देनेसे उनके नाशके लिये आप ही चेष्टा हो सकती है ।

जो द्रव्य परोपकार अर्थात् लोक-सेवामें खर्च किया जाता है, वह इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाला होता है । यदि निष्कामभावसे खर्च किया जाय तो वही मुक्तिदायक बन जाता है, यह बात युक्ति और शास्त्र दोनों ही प्रमाणोंसे सिद्ध है ।

(क्रमशः)

संतके गुण

इतने गुन जामें सो संत ।
श्रीभागवत मध्य जस गावत, श्रीमुख कमलाकंत ॥
हरिकौ भजन, साधुकी सेवा, सर्वभूतपर दाया ।
हिंसा, लोभ, दंभ, छल त्यागै, विषसम देखै माया ॥
सहनसील, आसय उदार अति, धीरजसहित, बिबेकी ।
सत्यबचन, सबको सुखदायक, गहि अनन्यव्रत एकी ॥
इन्द्रीजित, अभिमान न जाके, करै जगतको पावन ।
भगवतरसिक तासुकी संगति, तीनहुँ ताप नसावन ॥

आत्म-विज्ञान

(तत्त्वदर्शी महात्मा श्रीतैलङ्ग स्वामीका उपदेश)

आत्म-विज्ञान अथवा आत्म-बोधका अभिप्राय है अपनेको जान लेना—पहचान लेना। मैं यदि अपनेको जान सकूँ तो भगवान्‌को भी जान सकता हूँ। मैं जबतक अपनेको न जानूँगा, तबतक भगवान्‌को जाननेके लिये प्रयत्न करके भी न जान सकूँगा। मैं क्या हूँ—यह जाननेके लिये आत्मा, मन और बुद्धि—इन तीनों पदार्थोंका तत्त्व जान लेना आवश्यक है। यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि एक आत्मा शरीरकी प्रधान वस्तु अथवा स्वामी या कर्ता है। जैसे सूर्य पृथ्वीका कर्ता है, वह प्रकाश देता है और उस प्रकाशके आश्रयमें सब जीव अपना-अपना कार्य करते हैं, किंतु सूर्य निजमें कुछ भी नहीं करता, उसी प्रकार मनुष्य-शरीरमें आत्मा भी सूर्यस्वरूप कर्ता है और प्रकाश देता रहता है। उस प्रकाशके आश्रयमें इन्द्रियाँ अपना कार्य करती रहती हैं, किंतु आत्मा निजमें कुछ नहीं करता।

अब देखना चाहिये कि आत्मा साकार है या निराकार और वह देहके किस स्थानमें किस भावसे रहता है? आत्मा सर्वव्यापी है अवश्य, किंतु उसका कोई विशेष आकार नहीं है। तुम्हारा आत्मा और मेरा आत्मा एक ही पदार्थ है। जिस प्रकार एक कागजके ऊपर भाँति-भाँतिके चित्र अङ्कित रहनेपर भी उन विभिन्न चित्रोंका आधार वही एकमात्र कागज है, उसी प्रकार इस जगत्‌में सबका आत्मा एक ही है। कुछ दिनोंतक एकाग्रचित्तसे आत्माको जाननेका प्रयत्न करनेपर अवश्य ही यह अनुभव हो जायगा कि आत्मा अग्निके कण-सदृश हृदयमें विराज रहा है। आत्माके साथ ही परमात्मा है, जो परमात्मा है वही ईश्वर है। यह जान लेना चाहिये कि आत्मा रूपविशेष है, इसलिये प्रयत्न करनेपर उसका दर्शन हो सकता है। महापुरुष उसे देख चुके हैं और देख रहे हैं। आत्माके जाननेसे अपनेको जाना जाता है। आत्माको परमात्माका अंश समझना चाहिये इसलिये आत्म-विज्ञान ही परमात्माको जाननेका मुख्य द्वार है।

मन और बुद्धि साकार है या निराकार—यह जाननेकी बहुतोंकी इच्छा हो सकती है। मन एक सीमाबद्ध स्थानमें व्याप्त है, अतएव वह निश्चय ही वस्तु-विशेष है। सभी कहते हैं कि मेरा मन यह कहता है, तुम्हारा मन वह चाहता है आदि और प्रत्येक मनुष्यके पृथक् कार्योंसे भी यह समझा जाता है एवं मनके कार्य भी सर्वथा भिन्न हैं। यह विचारकर देखनेसे भलीभाँति समझमें आ जाता है, अतएव मन साकार है।

साधारणतया स्थूल-इन्द्रियकी सहायताके बिना द्रव्यके आकारकी उपलब्धि नहीं की जा सकती एवं स्थूल-इन्द्रियके द्वारा उपलब्धि न होनेके कारण मनका आकार किस प्रकारका है, यह सहजमें नहीं समझा जा सकता। आकारकी बातका यथार्थ अभिप्राय ज्ञात हो जानेपर किसीके भी मनमें संदेह नहीं रहेगा। एक बार विचारकर देखो कि तुम्हारा मन तुम्हारी देहसे सर्वथा भिन्न वस्तु है और उससे कोई स्थान व्याप्त नहीं है। इसीलिये मनका कार्य भी पृथक् है। प्रयत्न करनेपर यह सुगमतासे समझमें आ जायगा।

बुद्धि भी जगद्व्यापी नहीं है, अपितु किसी सीमाबद्ध स्थानमें है, इसलिये वह भी वस्तु-विशेष ही है। प्रत्येककी बुद्धि भिन्न-भिन्न है, इसीलिये कहा जाता है कि सबकी बुद्धि समान नहीं होती और जिसमें बुद्धि कम हो उसे लोग बुद्धिहीन कहते हैं। अतएव बुद्धिकी स्थान-

व्यापकता सिद्ध है। अच्छे-बुरेका विचार करना बुद्धिका कार्य है। मन और बुद्धिके रहनेका स्थान मस्तक है और बुद्धि जीव-शरीरमें दर्पणस्वरूप है।

एक प्रणव-मन्त्रसे ही इस जगत्की सृष्टि, स्थिति, लयरूप कार्य चल रहे हैं। प्रणव-मन्त्रका देवता अग्नि है। हिंदुओंका यह समझा हुआ सिद्धान्त है कि इस अग्निगत शक्तिसे ही यह जगत्-चक्र घूम रहा है। वे ऐसा कभी नहीं सोचते कि यह अग्निगत-शक्ति चैतन्य-सम्बन्ध-रहित है। हिंदुओंके लिये प्रणव-मन्त्रका लक्ष्य अग्निगत-शक्ति ब्रह्मचैतन्य-चेतना-युक्त है।

जबतक मेरी अँगुली विच्छिन्न नहीं, तबतक वह चेतनामय है। अँगुली काटकर फेंक दी जानेपर वह मुझसे विच्छिन्न हो गयी, उस समय उसमें चेतना नहीं रहती। तब वह अचेतन जड-पदार्थ है। यह समग्र विश्व चैतन्यमय पुरुषकी देह है। भिन्न-भिन्न शक्तियोंके आधार, जैसे अग्नि, वायु, नदी, पर्वत और मृत्तिका आदि उस देहके अङ्ग-विशेष हैं। अग्निको यदि उस एक चैतन्य पुरुषसे विच्छिन्न भावमें न देखो तो यह समझ लोगे कि अग्निमें चेतना है और जो अग्निके साथ उस चैतन्यमयका कोई सम्बन्ध देख नहीं पाते, उनके लिये अग्नि जड़ पदार्थ है।

आत्मा सर्वदा सर्वगत होनेपर भी सर्वत्र प्रकाशित नहीं होता, केवल निर्मल बुद्धिमें प्रकाशित होता है। सब इन्द्रियोंके अपने-अपने कार्यमें व्याप्त रहनेसे अविवेकी लोगोंको प्रतीत होता है कि आत्मा ही समस्त कार्योंमें व्याप्त हो रहा है। वह बादलोंके दौड़नेसे दौड़ते हुए चन्द्रमाके समान जान पड़ता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये चैतन्यस्वरूप आत्माके आश्रयसे कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं, जैसे सूर्यके प्रकाशके आश्रयमें मनुष्य कार्य करते हैं।

राग, इच्छा, सुख, दुःखप्रभृति प्रवृत्तियाँ बुद्धिकी ही वस्तुएँ हैं, आत्माकी नहीं। इसका प्रत्यक्ष कारण यह देखा जा सकता है कि सुषुप्ति-कालमें आत्मा रहता है, किंतु बुद्धिके न रहनेसे इच्छा, रागप्रभृति उस समय कोई भी नहीं रहते। जिस प्रकार सूर्यका स्वभाव प्रकाश, जलका स्वभाव शीतलता एवं अग्निका स्वभाव उष्णता है, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव सत्य, चैतन्य, आनन्द, नित्यता और निर्मलता है। आत्माकी सर्वत्र वर्तमानता, चैतन्यके अंश और बुद्धिवृत्ति—इन तीनोंके संयोगसे अविवेकद्वारा मैं जानता हूँ कि मैं कर रहा हूँ, इस प्रकारकी भावना होती है।

बुद्धि यह कभी नहीं बोध कर सकती कि आत्मामें विकार नहीं है। यह जीव-समुदाय वस्तुको जानकर मैं ज्ञाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ—इस ज्ञानमें मुग्ध हो रहा है। जिस प्रकार रज्जुको सर्प समझ लेनेपर सर्प-जन्य भय होता है, किंतु रज्जुका ज्ञान हो जानेपर फिर भय नहीं रहता,* इसी प्रकार आत्माको जीव समझना ही भयका कारण है। मैं जीव नहीं हूँ, मैं परमात्मा हूँ—यह ज्ञान हो जानेपर भय नहीं रहता। एक आत्मा ही बुद्धि-प्रभृतिको तथा इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है। अचेतन बुद्धि-प्रभृति एवं इन्द्रियाँ आत्माको प्रकाशित नहीं कर सकतीं।

अविद्यासे उत्पन्न शरीरादि जो सब दृश्य वस्तुएँ हैं, वे पानीके बुद्‌बुदकी तरह नाशवान् हैं। इन सब वस्तुओंसे अतीत जो निर्मल ब्रह्म है, वही मैं हूँ, यही धारणा दृढ़ करो। मैं देह नहीं हूँ और देह मेरी नहीं है। मैं देहसे पृथक् हूँ, इसीलिये जन्म, जरा, कृशता और मृत्यु आदि जो देहमें सब धर्म हैं, वे मेरे नहीं हैं और सब इन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं। इसलिये उनके विषयों और कार्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

* रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत्। नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत्॥
(श्रीशंकराचार्य—आत्मबोध २५)

मेरा मन नहीं है, इसीलिये दुःख, राग, द्वेष, भय-प्रभृति जो कुछ मनके कार्य हैं, वे मेरे नहीं हैं। यह वेद-प्रसिद्ध है कि मैं अप्राण हूँ, मैं अमल एवं शुद्ध आत्म-स्वरूप हूँ। निर्गुण, क्रियारहित, नित्य जो आत्मा है, मैं वही हूँ। मेरा कोई आकार या विकार नहीं। मैं चिरकालसे मुक्त हूँ। जब मेरा कोई क्षय नहीं—कोई संसर्ग नहीं, तब मैं अचल, सर्वदा शुद्ध और निर्मल हूँ एवं आकाशकी भाँति समभावसे सब वस्तुओंमें बाहर और भीतर व्याप्त हूँ*।

जो व्यक्ति 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—सदा यह वासना रखता है, उसके निकट सभी सृष्ट वस्तुएँ विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय—ये सभी भेद परमात्मामें नहीं हैं। वह चैतन्यमय आनन्दस्वरूपके एक रूपमें स्वयं देदीप्यमान है।

जिस प्रकार एक आकाशको घटादि उपाधि-भेदसे घटाकाश-प्रभृति नाम देकर भिन्न-भिन्न समझा जाता है और घटादिके फूट जानेपर एक आकाश ही रहता है, उसी प्रकार एक परमात्मा नाना उपाधियोंके भेदसे पृथक्-पृथक् जान पड़ता है। उपाधिका विनाश होनेपर एकमात्र परमात्मा ही रह जाता है। परमात्मा भिन्न-भिन्न नहीं हैं†। जिस प्रकार लवणादि रस, किंवा रक्तादि वर्ण जलमें मिश्रित होनेपर लवणादि रस किंवा रक्तादि वर्ण प्रभेदसे जलमें दस लवणादि रस किंवा रक्तादि वर्णका आरोप होता है, उसी तरह नाना प्रकारकी उपाधिवश जाति, नाश और आश्रय-प्रभृति सभी वस्तुएँ परमात्मामें आरोपित होती हैं।

जिस प्रकार धानको कूटकर तुष आदिसे अलग कर दिया जाता है, तो उसका स्वरूप तण्डुल-मात्र रह जाता है, उसी प्रकार शरीरादिसे आवृत परमात्माको युक्तिद्वारा शरीरादिसे पृथक् करनेपर शुद्ध स्वरूप प्रकाशित होता है। जिस प्रकार उष्णता अग्निको आश्रय किये हुए है, उसी प्रकार इन्द्रियादि जड वस्तु-समूह अद्वितीय, निश्चल और नित्यज्ञान-स्वरूप आत्माको आश्रय करके अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त है। उसे सर्वान्तर्यामी ज्ञानमय नित्य आत्मा समझना चाहिये। आत्मा मैं ही हूँ। 'मैं' कहनेसे और कोई पदार्थ नहीं समझा जाता। 'मैं' ही वह हूँ अथवा वही 'मैं' हूँ। उससे भिन्न मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ नहीं है। सब कुछ वही है और सभी कुछ उसका है।

मनुष्यरूप तृण वासनारूप वायुद्वारा इधर-उधर उड़ते हुए जन्म-जन्मान्तरमें दुःख भोग रहे हैं। 'यह मेरा है, यह मेरा नहीं है'—इत्यादि प्रकारका भ्रम-ज्ञान ही संसार-बन्धनका कारण है। 'मैं' कहनेसे आत्माके सिवाय और कुछ नहीं है। सर्व‡ ब्रह्म है, इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होनेपर आत्मा मुक्त हो जाता है। यह उपाय अपने ही अधीन है। इसके रहते हुए भी असीम सांसारिक यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ें तो यह बड़े ही परितापका विषय है।

---

* दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजो ह्यप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। (मुण्डकोपनिषद् २।१।१२)

† आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्॥
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि॥
रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै। आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥
(माण्डूक्यकारिका ३।४ एवं ६)

‡—'सर्वमेवेदं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म'। (माण्डूक्योपनिषद् २१)

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृष्ठ ८२० से आगे]

अनुराग तो श्रीगोपाङ्गनाओंमें था ही, इस वंशी-ध्वनिसे वह अनुराग उद्बुद्ध और प्रकाशित हो गया। अनुराग केवल अंदर ही नहीं जगा, अपनी-अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके सामने वह बाहर भी निकल पड़ा। वे व्रज-रमणियाँ आज वंशी-रवको सुनकर व्याकुल हो उठीं।

वंशी-रवमें एक वस्तु है; यहाँ उसका नाम लिया है—स्मर। स्मरका लौकिक अर्थ होता है—काम। यहाँ काम क्या है——कृष्ण-सुख-विषयक काम। हमारे काममें और गोपाङ्गनाओंके कामनामक प्रेममें यही अन्तर है। इसलिये शास्त्रज्ञोंने कहा है, **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'**—गोपियोंके विशुद्ध प्रेमका नाम यहाँपर काम है। इसमें अन्तर क्या है? यहाँ केवल प्रियतमके सुखकी चाह है। स्वसुखवाञ्छाकी कल्पना ही नहीं है। प्रेम और काममें यही अन्तर है। आपके द्वारा मैं होना चाहूँ——इसका नाम काम है। वह चाहे किसी मित्रके द्वारा हो, भगवान्‌के द्वारा हो, किसी सम्बन्धीके द्वारा हो, किसी वस्तुके द्वारा हो, परिस्थितिके द्वारा हो। यह भौतिक जगत्‌में तो होता ही है, पर आध्यात्मिक जगत्‌में भी स्वसुखकामना होती है।

मुमुक्षुके हृदयमें जो ज्ञानका ऊँचा-से-ऊँचा साधक है, जिसने षट्सम्पत्ति प्राप्त कर ली है, उसमें भी स्वसुख-कामनाका एक बड़ा ऊँचा सूक्ष्म रूप बताया गया है। ज्ञानके चार साधन हैं——विचार, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व। जब संसारके प्रपञ्चके यथार्थ रूपका विवेक जाग्रत् होता है, तब हमें अनुभव होता है——अनित्य क्या है? सत्य क्या है? असत्य क्या है? दुःख क्या है? सुख क्या है? हमलोगोंको जो उलटा अनुभव हो रहा है, इसीका नाम मूर्खता है——यह विवेकके द्वारा एवं विशुद्ध बुद्धिके द्वारा जाना जाता है——

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
(गीता १८। ५१)

सबसे पहले भगवान्‌ने गीतामें इस ज्ञानकी परानिष्ठाका वर्णन करते हुए साधन बताया—**'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः'** विशुद्ध बुद्धिसे युक्त हो। विशुद्ध बुद्धिका नाम है विवेक। विशुद्ध बुद्धिका कार्य है वस्तुका यथार्थ रूप सामने रख देना। बुद्धिमें यदि कोई व्यभिचार है, वह बहुशाखावाली है, अनिश्चयी है तो वह विशुद्ध बुद्धि नहीं है। विशुद्ध बुद्धि या निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है, वह दो नहीं होती, वह तो केवल भगवान्‌को देखती है। बुद्धिकी विशुद्धिका नाम विवेक है। विवेक क्या करता है——वस्तुका असली स्वरूप सामने रख देता है। यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, इसे लो, उसे छोड़ो, यह मिथ्या है, यह सत्य है, यह नित्य है, यह अनित्य है——इस प्रकारसे विवेक जाग्रत् हो जाता है तो भोगोंसे स्वाभाविक वैराग्य हो जाता है। विवेक जाग्रत् होनेपर दिखता है कि ये जितने भोग हैं, सब अनित्य हैं, अपूर्ण हैं, दुःखमय हैं, दुःखयोनि——दुखालय हैं—उन्हें कौन स्वीकार करेगा? जो स्वीकार करता है, वह बुद्धिमान् नहीं है। गीतामें उसे मूढ़की संज्ञा दी गयी है——

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

आसुरी भावका आश्रय लेनेवाले ये विषयासक्त लोग मूढ होते हैं। विषयासक्ति अविवेकसे होती है। विवेक

होनेपर तो वैराग्य हो जाता है। वैराग्य होते ही छः सम्पत्तियाँ स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाती हैं—शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान। इन छः सम्पत्तियोंके प्राप्त होनेके बाद मोक्षकी इच्छाका उदय होता है। पर मोक्षकी इच्छामें भी स्वसुख-कामना है।

यह क्या है? जहाँपर मोक्ष है या जहाँपर मुक्ति शब्द है, वहाँपर कोई बन्धन है, वहाँ कोई व्यक्ति या कोई अहं है। यदि अहं नहीं है तो बन्धन किसका? बन्धन नहीं है तो मुक्ति किसकी? यों मुक्तिमें बन्धनकी अपेक्षा है और बन्धनमें अहंकी अपेक्षा है। वह चाहता है कि मैं जो बँधा हुआ हूँ, छूट जाऊँ—इसका नाम है—मुमुक्षा। मुक्तिमें भी मैंकी मङ्गलकामना वर्तमान है। यद्यपि मुक्ति और भगवत्प्रेममें स्वरूपतः अन्तर नहीं है, तत्त्वतः अन्तर नहीं है; एक ही स्थितिके दो रूप हैं; एक है रसाद्वैत और दूसरा है ज्ञानाद्वैत और वस्तुएँ ये दोनों भी एक ही हैं, पर उसमें भी 'अहम्' की, मुक्तिकी आकाङ्क्षा-स्वसुखवाञ्छा है। यह स्वसुखवाञ्छा जहाँपर है—वहाँ कामना है, चाहे मुक्तिकी ही कामना हो।

पद्मपुराणमें आया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

भुक्ति-मुक्तिकी पिशाची इच्छा जबतक हृदयमें वर्तमान है तबतक प्रेमके अङ्कुरका उदय नहीं होता।

श्रीशंकराचार्यजी भी देवीकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा
भवविभववाञ्छापि च न मे।
न विज्ञानापेक्षा
शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः॥

'हे देवि! न मुझे मोक्षकी आकाङ्क्षा है और न मुझे संसारके सुखकी इच्छा है।'

जहाँपर मोक्षकी आकाङ्क्षा है, वहाँपर भी काम है। चाहे वह विशुद्ध काम हो, परंतु जहाँ भुक्ति-मुक्तिकी कल्पना नहीं, जहाँ **'मुखड़ा ही नित नव बन्धन है, मुक्ति चरणसे झरती है', 'तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही केवल मेरे बन्ध'**—जहाँ भगवान् ही मोक्ष हैं, भगवान् ही बन्धन हैं, वहाँ स्वसुख-कामना नहीं। स्वसुख-कामनाका जहाँ सर्वथा अभाव होता है, वहाँसे व्रज-प्रेम आरम्भ होता है। इसलिये यह वस्तु बहुत ऊँची है।

श्रीकृष्णके इस मधुर वेणु-नादको सुनकर व्रजरमणियोंने अपनी-अपनी अन्तरङ्ग सखियोंको मोहन मुरली-रवके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहा। वे बड़ी सावधानीसे कुछ बोलने लगीं। अंदरकी वस्तुको बाहर आने देनेमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। यह प्रेमका विषय है—उच्छ्वास है। इसे रसका समुद्र कहते हैं। अंदरके भावको छिपानेका जहाँ प्रयास होता है, उसे रस-शास्त्रकारोंने अनिच्छा-भाव कहा है। यहाँ भी अनिच्छा-भाव है। इसमें तैंतीस संचारी भाव होते हैं। यह विषय अलग है, अतः यहीं छोड़ रहे हैं।

ये व्रजाङ्गनाएँ—व्रजरमणियाँ कृष्णप्रेमकी एक-एक अनन्त भण्डार हैं। प्रेम कभी पूर्ण नहीं होता—ज्ञान कभी अपूर्ण नहीं रहता। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ ज्ञान नहीं है। जहाँ प्रेम पूर्ण हो गया, वह प्रेम नहीं है। प्रेम नित्य अपूर्ण है और ज्ञान नित्य पूर्ण है। यह व्रज-प्रेमका अनन्त भण्डार है। इस भण्डारमेंसे प्रेम निकालते चलो। यह भण्डार नित्य नये रूपसे भरता रहेगा, परिपूर्णतम रहेगा। परिपूर्णरूप प्रेमकी जो परिपूर्णता है, वह भी नित्य अनन्तकी ओर प्रवाहित रहती है, जिसका कभी अन्त होता ही नहीं। यह परिपूर्णता भी अपूर्ण है। यह बहती है अनन्तकी ओर, जिसका कभी अन्त नहीं आता। भगवान्‌के प्रेमकी ओर श्रीगोपाङ्गनाओंकी प्रेमसुधा-धारा प्रवाहित होती रहती है,

नित्य अनन्तकी ओर प्रवाहित होती रहती है। इसलिये कहा है कि यह प्रेम कभी पूरी न होनेवाली एक धारा है—अनन्त भण्डार है। इस प्रेम-समुद्रमें विलक्षण-विलक्षण, विचित्र-विचित्र भावोंकी तरंगें उठा करती हैं।

भगवान्‌के जो दो रूप हैं—एक शान्त आनन्द, दूसरा उच्छलित आनन्द—नाचनेवाला आनन्द। नाचनेवाला आनन्द प्रेम-भूमिकामें रहता है। प्रशान्त आनन्द ज्ञान-भूमिकामें रहता है। दोनोंका तल एक ही है। इन नयी-नयी भाव-तरंगोंके द्वारा गोपाङ्गनाओंका हृदय निरन्तर आन्दोलित होता रहता है। भावकीरक्षा प्रेममें ही होती है। प्रेमकी स्वरसता है, पर प्रेमकी स्वरसतामें रसास्वादनकी विषमता है। समुद्र एक है, समुद्रके रूप-रंगमें कोई अन्तर नहीं है। पर समुद्रकी तरंगें विभिन्न भाँतिकी होती हैं—कभी बड़ी तीव्र, कभी बड़ी हल्की, कभी बड़ी मृदु। यदि ये एक-सी रहें तो समुद्रका तरंग-सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। जैसे समुद्र एक-सा होते हुए भी उसकी तरंगें भिन्न-भिन्न होती हैं, इसी प्रकार क्षण-क्षणमें प्रेम-राज्यमें प्रेमवती गोपियोंके अन्तःकरणमें नयी-नयी भाव-तरंगोंका उदय होता है।

ये गोपाङ्गनाएँ आत्मगोपनवश अंदरकी बात छिपानेको प्रवृत्त तो हुईं; पर छिपा न सकीं। छिपानेकी चेष्टामें ही उनके सामने उनके हृदयपर वंशी बजाते हुए ये मदन-मोहन स्वमनमोहन श्यामसुन्दर प्रकट हुए। ये स्वमनमोहन ऐसे हैं कि एक दिन उन स्वमनमोहन श्यामसुन्दरने दर्पणमें अपना मुँह देख लिया। बस, वे स्वयंपर मोहित हो गये। यह रूप कहाँसे आ रहा है? यह रूप तो हमें मिला ही नहीं, इसका आनन्द तो हमें मिला ही नहीं। यह आनन्द जिसको मिले, वह बड़ा भाग्यवान् है। अपने स्वरूपका आनन्द श्रीकृष्णको अपने-आप नहीं मिलता, तभी वे राधारूप बने और अपने स्वरूपका आनन्द लिया।

वस्तुतः जब श्रीगोपाङ्गनाओंके आत्मगोपनकी चेष्टा बलवती हुई, तब क्या हुआ? उनकी ये भाव-तरंगें श्यामसुन्दरके स्वरूप-सौन्दर्यतक जा पहुँचीं। उस स्मृतिसे उस समय उनके मनमें जो प्रेमका भाव उदय हुआ, मिलनेच्छा जाग्रत् हुई, उसे अप्रकट करती हुई वंशी-रवका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुई। उस आत्मगोपनकी चेष्टामें—छिपानेकी चेष्टामें उनका स्वरूप प्रकट हो गया। वे विक्षिप्त-सी होकर किसीसे बोल न सकीं। आगे आयेगा कि वे एक दूसरेका आलिङ्गन करने लगीं—हृदयसे लगने लगीं। जिस रूपका उन्हें स्मरण हुआ, उसीका वर्णन श्रीशुकदेवजी करते हैं।

(क्रमशः)

श्रीकृष्ण-कृपा-याचना

(रचयिता—श्रीराधाकृष्णजी श्रोत्रिय, 'साँवरा')

हिय-ब्रज बिपति-घटनने घेरो।
छाये माया-मेघ प्रलयके, बाढ्यो मोह-अँधेरो॥
कौंधति क्रोध-दामिनी छिन-छिन, पावत त्रास घनेरो।
बरस-बरस तें बरसि विषय-विष, पाप-पंकमें गेरो॥
राखहु सरन चरनकी माधौ, हौं चितवत मुख तेरो।
लेहु उठाय कृपाकौ गिरिवर, इन्द्रिय-इन्द्र उखेरो॥
गिरिधर नाम कहाउ साँचु नतु परहिं लाजकौ फेरो।
'साँवर'-कृपा-कटाक्ष किये बिनु, को करिहैं निरबेरो॥

सुख तथा शान्तिकी खोज

(लेखक—श्रीविश्वबन्धुजी सत्यार्थी)

सुख तथा शान्ति दोनों पृथक्-पृथक् होते हुए भी तत्त्वदृष्टिसे एक ही हैं। विषय-सुख आभासमात्र होनेपर भी सच्चा-सा प्रतीत होता है। विषय-सुखमें ऐसा आकर्षण है कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी वह लुभा लेता है। बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कहे जानेवाले पुरुष भी बार-बार विषय-सुखका परित्याग करके भी पुनः उसीकी इच्छा कर बैठते हैं। विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो जितने विषय-पदार्थ हैं, सभी सुख-दुःखसे रहित हैं। यदि विषय-पदार्थोंमें सुख अथवा दुःख होता तो सभीके अनुभवमें सदृशता होनी चाहिये थी, परंतु ऐसा नहीं है। एक ही पदार्थ किसी व्यक्तिका जीवन है तो दूसरेका मरण। अफीम अफीमचीके लिये जीवन हो सकता है, परंतु जो अफीम नहीं खाता उसके लिये विष ही है।

सिगरेट, तम्बाकू ऐसी वस्तुएँ हैं कि बहुतेरे बड़े प्रेमसे पीते हैं और इसके सुखके पीछे भोजनतकके आनन्द-सुखको भूल जाते हैं, परंतु जो व्यक्ति इनका सेवन नहीं करता, वह इनके धुएँसे भी घबराता है। इससे सिद्ध होता है कि सुख अथवा दुःख पदार्थोंमें नहीं है, कोई दूसरी ही वस्तु है।

मनकी वृत्तियोंके शान्त होनेपर सुखका अनुभव और उनके चञ्चल होनेपर दुःखका अनुभव होता है। वृत्तियोंकी चञ्चलता इच्छाओंसे पैदा होती है। जब मनमें किसी वस्तुका संकल्प स्फुरित हुआ, तब चित्त उसके लिये व्याकुल हो उठा। जब वह पदार्थ सम्मुख आया, तब वृत्तियाँ शान्त-सी प्रतीत होने लगीं और सुखका अनुभव होने लगा। जब उस वस्तुका वियोग अथवा अप्राप्ति हुई, तब दुःख और भी बढ़ गया, चित्त अत्यन्त व्याकुल हो उठा।

अब प्रश्न यह होता है कि वृत्तियोंके शान्त होनेसे सुख कहाँसे आ गया? सुख अपने ही अंदर था। वह सुख वृत्तियोंकी चञ्चलतासे ढक गया था। वृत्तियोंके शान्त होनेसे उसका विकास हो उठता है। अज्ञानी नासमझीसे अपने अंदर न समझकर दूसरेमें सुख समझता है, इसलिये उसे बार-बार अनित्य पदार्थोंके पीछे दौड़ लगानी पड़ती है।

'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छान्दोग्य उपनिषद्)

निश्चल आत्मा ही सुख और शान्तिका निकेतन है।

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते
मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥'

(कठ०)

मूर्खलोग बाह्य इच्छाओंके पीछे दौड़ लगाते हैं और मृत्युके लम्बे-चौड़े आवागमनके पाशमें बँध जाते हैं तथा जो धीर विचारशील पुरुष हैं वे निश्चल अमृतत्व (आत्मतत्त्व) को जानकर नाशवान् बाह्य पदार्थोंके पीछे दौड़ नहीं लगाते।

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥'

जब धीर, विवेकी आत्मज्ञानी पुरुष आत्माके सिवा दूसरे पदार्थोंको सुखकी अभिलाषासे न तो देखते हैं, न सुनते हैं, न जाननेका प्रयत्न करते हैं तभी वे अमृत-तत्त्वको प्राप्त होते हैं—जन्म-मरणके पाशसे मुक्त हो जाते हैं और जो मन्दबुद्धि पामर जीव विषय-पदार्थोंको सुखकी अभिलाषासे देखता है, सुनता है, पहचानता है, वह जन्म-मरणके पाशमें बँध जाता है।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[शरणागतिकी विलक्षणता]

पारमार्थिक बातें एक-से-एक विलक्षण हैं ! उनमें शरणागतिकी बात बहुत विलक्षण है ! शरणागतिमें दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो ईश्वरवाद सिद्ध होता है और एक आश्रय लेनेका स्वभाव सिद्ध होता है। ईश्वरवाद कैसे सिद्ध होता है ? कि प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसीको अपनेसे बड़ा मानता है और उसका आश्रय लेता है। पशु-पक्षियोंमें भी यह बात देखी जाती है।

हम जब बूँदीमें रहते थे, तब एक रात हम सब सो रहे थे। रातमें वहाँ एक बघेरा (चीता) आया। वहाँ दो कुत्ते थे। बघेराको देखते ही वे कुत्ते डरते हुए झट हमारे पास आकर चिपक गये; क्योंकि बघेरा कुत्ते और गधेको खा जाता है। अतः भय लगनेपर पशु-पक्षी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। ऐसे ही मात्र जन्तु किसी-न-किसीका आश्रय लेते हैं। कोई बिल बनाकर रहता है, कोई घर बनाकर रहता है, कोई किसी तरहसे रहता है। जंगम प्राणी तो दूर रहे, स्थावर प्राणी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई लता है, वह भी दीवार, वृक्ष आदिका सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है।

जीवमात्रमें आश्रय लेनेकी स्वाभाविक शक्ति है। कोई गुरुका आश्रय लेता है, कोई ग्रन्थका आश्रय लेता है, कोई इष्टका आश्रय लेता है; किसी-न-किसीका आश्रय लेकर उससे रक्षा चाहता है, उसके अधीन होना चाहता है। इस प्रकार किसी-न-किसीका आश्रय लिये बिना कोई नहीं रहता और जिसका आश्रय लेता है, उसे बड़ा मानता है, तो ईश्वरवाद सिद्ध हो गया। जो ईश्वरको नहीं मानता, ऐसा नास्तिक पुरुष भी माँ-बापको बड़ा मानता है, किसीको विद्यामें बड़ा मानता है, किसीको आयुमें बड़ा मानता है; इस तरह किसी-न-किसीको बड़ा मानता ही है। विद्यामें, बुद्धिमें, योग्यतामें, जन्ममें (कि यह हमारेसे पहले जन्मा है) आदि किसी विषयमें किसीको भी अपनेसे बड़ा मान लिया तो ईश्वरवाद सिद्ध हो गया।

ईश्वर सर्वोपरि शक्ति है और सबसे बड़ा है। पातञ्जलयोग-दर्शनमें लिखा है—**'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (१।२६) अर्थात् पहले जितने हो चुके हैं, उन सबका गुरु है—ईश्वर; क्योंकि उसका कालसे व्यवधान नहीं है। सबसे पहले होनेसे वह ईश्वर सबसे बड़ा है और सब उससे शिक्षा लेते हैं, उसके आश्रित होते हैं। इसलिये उस ईश्वरका ही आश्रय लेना चाहिये; परंतु एक ईश्वरका आश्रय न लेनेसे कइयोंका आश्रय लेना पड़ता है। कोई पदका आश्रय लेता है, कोई अपनी योग्यताका आश्रय लेता है, कोई अपनी बुद्धिका आश्रय लेता है, कोई अपने बलका आश्रय लेता है, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई बेटे-पोतोंका आश्रय लेता है, इस प्रकार मनुष्य जिस-किसीका आश्रय लेता है, वह तो बड़ा हो जाता है और मनुष्य स्वयं छोटा हो जाता है, गुलाम हो जाता है। वह समझता है कि मेरे पास इतने रुपये हैं, मैं इतने रुपयोंका मालिक हूँ, पर मालिकपना तो वहम है, सिद्ध होता है गुलामपना ! अपने पास रुपये हों तो वह अपनेको बड़ा मानता है और रुपये न हों तो अपनेको छोटा मानता है। जब वह रुपयोंसे अपनेको बड़ा मानता है, तब स्वयं छोटा सिद्ध हो गया न ? बड़े तो रुपये ही हुए। स्वयंकी तो अप्रतिष्ठा ही हुई।

परमात्माका आश्रय लिये बिना सब आश्रय अधूरे हैं; क्योंकि परमात्माके सिवाय और कोई सर्वोपरि तथा

पूर्ण नहीं है। रुपये, बेटे-पोते, पद, योग्यता, समाजका बल, अस्त्र-बल, शस्त्र-बल आदि सब-के-सब तुच्छ ही हैं और पूर्ण भी नहीं हैं। यदि एक पूर्ण परमात्माका आश्रय ले ले तो फिर और किसीका आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। जो भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लेता है, उसे फिर दूसरे आश्रयकी आवश्यकता ही नहीं रहती। सुग्रीवने भगवान् श्रीरामका आश्रय लिया तो भगवान्‌ने कह दिया—**सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥** (मानस ४ । ६ । ५)। लोक-परलोक-का सब तरहका काम सिवाय ईश्वरके कोई कर ही नहीं सकता। ऐसे सर्वोपरि ईश्वरको छोड़कर जो दूसरी तुच्छ वस्तुओंका सहारा लेता है, दूसरी तुच्छ वस्तुओंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है, वह एक तरहसे नास्तिक है—ईश्वरको न माननेवाला है। यदि वह ईश्वरको मानता तो उसे ईश्वरका ही सहारा होता।

भगवान्‌का सहारा लेनेवाला परतन्त्र नहीं रहता। एक विचित्र बात है कि पराधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता; तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के अधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता; क्योंकि भगवान् 'पर' नहीं हैं। मनुष्य पराधीन तब होता है, जब वह 'पर' के अधीन हो अर्थात् धन, बल, विद्या, बुद्धि आदिके अधीन हो। भगवान् तो अपने हैं—**'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'** इसलिये उनका आश्रय लेनेवाला पराधीन नहीं होता, सर्वथा स्वाधीन होता है, निश्चिन्त होता है, निर्भय होता है, निःशोक होता है, निःशङ्क होता है। दूसरेके अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी सुख नहीं होता—**'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'** (मानस १ । १०१ । ३); परंतु भगवान्‌के अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी दुःख नहीं होता। मीराबाईने कहा है—

ऐसे बर को क्या बरूँ, जो जन्मे अरु मर जाय।
बर बरिये गोपालजी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

इस तरह केवल भगवान्‌का आश्रय ले ले तो सदाके लिये मौज हो जाय! स्वप्नमें भी किसीकी किंचिन्मात्र भी आवश्यकता न रहे! जब किसी-न-किसीका आश्रय लेना ही पड़ता है, तब सर्वोपरिका ही आश्रय लें, छोटेका आश्रय क्या लें? अतः सबसे पहले ही यह मान लें कि भगवान् हमारे और हम भगवान्‌के हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।'

माँ कौन है? भगवान्। बाप कौन है? भगवान्। सखा कौन है? भगवान्। धन कौन है? भगवान्। विद्या क्या है? भगवान्। हमारे सब कुछ भगवान् ही हैं।

वाल्मीकि बाबाके यहाँ लव-कुशका जन्म हुआ था। सीताजीने लव-कुशको सब कुछ सिखाया। सीताजीने ही उन्हें युद्धविद्या सिखायी कि ऐसे बाण चलाओ। वे सीताजीको ही माँ मानते और सीताजीको ही बाप मानते। सब कुछ सीताजीको ही मानते थे। जब लव-कुशने रामाश्वमेधयज्ञका घोड़ा पकड़ा, तब पहले माँ सीताजीको याद करके प्रणाम किया, फिर युद्ध किया। युद्धमें उन्होंने विजय प्राप्त कर ली। वहाँ हनुमान्‌जी थे, अंगद भी थे, शत्रुघ्नजी भी थे, भरतका बेटा पुष्कर भी था, बड़े-बड़े महारथी थे। उन सबको लव-कुशने हरा दिया, उनके छक्के छुड़ा दिये और हनुमान्‌जी तथा अंगदको पकड़ लिया। उन्हें पकड़कर माँके पास ले आये और बोले कि हम दो बन्दर लाये हैं खेलनेके लिये। दोनोंकी पूँछ आपसमें बाँध दीं। माँने कहा कि

यह क्या किया तुमने ? जैसे तू मेरा बेटा है, वैसे ही हनुमान् भी मेरा बेटा है । वे बोले कि हमने ठीक किया है, बेठीक नहीं किया है; आप कहो तो छोड़ देंगे । माँके कहनेसे उन्होंने दोनोंको छोड़ दिया । इस तरह माँ सीताजीको ही सर्वोपरि समझनेसे, उनका ही आश्रय लेनेसे छोटे-छोटे बालकोंने श्रीरामजीकी सेनापर विजय प्राप्त कर ली !

वाल्मीकिजी लव और कुशको श्रीरामजीकी राजसभामें ले गये । वहाँ उन्होंने वाल्मीकिजीकी सिखायी हुई रामायणको बहुत सुन्दर ढंगसे गाया । श्रीरामजी उन्हें इनाम देने लगे तो वे चिढ़ गये कि देखो, राजा कितना अभिमानी है ! हमें देता है । हम कोई ब्राह्मण हैं ? हमारे गुरुजीने कहा है कि तुम क्षत्रिय हो, ब्राह्मण नहीं हो । हम लेनेवाले, माँगनेवाले नहीं हैं । फिर उन्हें समझाया गया कि ये तुम्हारे पूजनीय, आदरणीय पिताजी हैं, नहीं तो वे श्रीरामजीको कुछ नहीं समझते थे । उनकी दृष्टिमें तो माँ-बाप आदि जो कुछ है, वह सब सीताजी ही हैं । उनके लिये सीताजीके समान संसारमें कोई नहीं है । इसलिये मनुष्यको किसीका सहारा लेना हो तो सर्वोपरि भगवान्‌के चरणोंका ही सहारा लेना चाहिये—'**एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।**' हमारे प्रभु हैं, प्रभुके हम हैं—यह हमारा अभिमान भूलकर भी कभी न जाय—'**अस अभिमान जाइ जनि भोरें । मैं सेवक रघुपति पति मोरें ॥**' (मानस ३ । १० । ११)।

सज्जनो ! कोई रुपयोंका सहारा लेता है, कोई बलका सहारा लेता है, कोई किसीका सहारा लेता है तो कोई किसीका, इस तरह क्यों दर-दर भटकते हो ? जो अपने हैं, उन प्रभुका ही सहारा लो । अन्तमें उनसे ही काम चलेगा, और किसीसे नहीं चलेगा । भगवान्‌के सिवाय और सब कालका चारा है । सबको काल खा जाता है ।

भगवान्‌के चरणोंकी शरण ले लो तो निहाल हो जाओगे । आज ही विचार कर लो कि मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, बस । सच्ची बात है, सिद्धान्तकी बात है, पक्की बात है । भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं, चाहे कोई भगवान्‌को माने या न माने, आस्तिक-नास्तिक कैसा ही क्यों न हो; क्योंकि भगवान् सब प्राणियोंमें समान हैं—'**समोऽहं सर्वभूतेषु**' (गीता ९ । २९) । परंतु जो भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, उसका तो कहना ही क्या है ! उनके चरणोंका आश्रय लेनेसे तो मौज ही हो जाती है ! आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है !

धिन सरणो महराजको, निसिदिन करिये मौज ।
रामचरण संसार सुख, दई दिखावे नौज ॥

भगवान् संसारका सुख कभी न दिखायें । यह संसारका सुख ही फँसानेवाला है । इसीके लोभमें आकर आदमी भगवान्‌से विमुख हो जाता है, भगवान्‌का आश्रय छोड़कर सुखका आश्रय ले लेता है । अतः हमें संसारका सुख लेना ही नहीं है । हमें तो प्रभुके चरणोंकी शरण होना है । वास्तवमें तो सदासे ही हम भगवान्‌के और भगवान् हमारे हैं । उनकी शरण लेनी नहीं पड़ती । जैसे, बालकको माँका आश्रय लेना नहीं पड़ता । माँकी गोदीमें बैठकर बालक निर्भय हो जाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें माँसे बढ़कर कोई नहीं है । ऐसे ही भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं है । अतः उनके चरणोंकी शरण लेकर निर्भय हो जाना चाहिये ।

उद्धव-संदेश—१३

(लेखक- —डॉ० महानामव्रतजी ब्रह्मचारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

व्रजाङ्गनाएँ बोलीं—'श्रीदाम, सुबलप्रभृति श्रीकृष्ण-सखाओंने मथुरासे लौटकर हमारे सम्मुख आपका नाम अनेक बार लिया है और यह भी सुना था कि आपका रूप-गुण, वेश-भूषा अधिकांशमें श्रीकृष्ण-सरीखे ही हैं। इसीलिये आपको पहचाननेमें हमें विलम्ब नहीं लगा। आपके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी बातें हमारे कानोंमें पड़ी हैं। सुना है, मधुपुरीमें श्रीकृष्णके रसिक सखाओंमें आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसीलिये एक बातकी जिज्ञासा करनेकी हमारी इच्छा हो रही है।

'अच्छा, उद्धवजी! जरा बतायें तो सही, कौन-सी प्रीति नष्ट हो जाती है और कौन-सी चिरकालस्थायी रहती है? हमारी धारणा है कि जो प्रीति सहैतुकी है, वह नष्ट हो जाती है और जो प्रीति अहैतुकी है, वह सदा स्थिर रहती है। कोई भी वस्तु हो या भाव-बन्धन हो, जिसकी उत्पत्तिके मूलमें हेतु विद्यमान है, वह तो हेतुके नाश होते ही नष्ट होगी ही; किंतु जिसका कोई कारण नहीं होता, जिसका प्रकाश स्वतः सहज एवं अहैतुक है, वह किसी भी कालमें विनष्ट नहीं होता। तब तो अहैतुकी प्रीति अविनाशी हुई न?

'उद्धव! यदि यह सही है तो फिर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि श्रीकृष्णके साथ हमारा जो प्रीतिका सम्बन्ध था, वह पूर्णतया कैसे मिट गया? तुम्हारे प्रभुके साथ हम जो प्रीति करती थीं, उसका तो कोई हेतु नहीं था, उससे कोई प्रयोजन-सिद्धि करनेकी अभिसंधि नहीं थी; और वे भी हमसे जो प्रीति करते थे, उसमें भी किसी उद्देश्य-सिद्धिका अभिप्राय न था। यह तो विशुद्ध वस्तु थी। प्रीतिका एतादृश विशुद्ध सम्बन्ध समूल नष्ट कैसे हो गया? इस प्रकारकी अहैतुकी श्रद्धा और प्रीतिको भी प्रभुने किस कौशलसे पूर्णतया अस्तित्वहीन कर दिया?

'उद्धवजी! हेतुज प्रीति विनाशशील है, इसके दृष्टान्त जगत्में भरे पड़े हैं; किंतु इसके विपरीत दृष्टान्त एक भी दिखायी नहीं पड़ता। सुनो, विनाशशील प्रीतिके थोड़ेसे दृष्टान्त बतायें। भ्रमर जब प्रस्फुटित पुष्पसे प्रीति करता है, तब कितने गुण गाता है, कितना मुखचुम्बन करता है; किंतु वह प्रीति स्थायी नहीं होती। जब मधु समाप्त हो जाता है, तब वह प्रीति भी समाप्त हो जाती है। उस प्रीतिका हेतु था मधु—**'तत्सत्त्वे तत्सत्ता तदसत्त्वे तदसत्ता।'** कामुक पुरुष स्वार्थ-सिद्धि-हेतु रमणीके प्रति प्रीतिका अभिनय करता है। स्वार्थ-पूर्तिके साथ-साथ ही प्रीति-पात्रके प्रति अनादर दृष्ट होता है। **'पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः'**—(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६) गणिका भी धनी युवकके प्रति उतने दिन ही प्रीति-प्रदर्शन करती है, जबतक उसके पास धन है। धन-समाप्तिके साथ-साथ ही प्रीति भी समाप्त हो जाती है। प्रीतिका हेतु ही था धनप्राप्ति। उसी स्वार्थके लिये प्रीतिका अभिनय था, उस उपाधिके अभावमें प्रीति भी शून्यमें विलीन हो गयी—**'निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः'** प्रजा भी राजासे जो प्रीति करती है, उसके मूलमें यह भावना है कि राजा प्रजाका कल्याण-साधन करेंगे। जब राजामें प्रजापालनकी शक्ति नहीं रह जाती अथवा शक्ति होते हुए भी जब राजा प्रजाके मङ्गल-साधनसे उदासीन हो जाता है, तब परम राजभक्त प्रजा भी राजाके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देती है। 'कल्याण होगा'—इस हेतु या उपाधिपर राजा-प्रजाकी प्रीति स्थापित है। हेतुनाशसे प्रीतिनाश अवश्यम्भावी है—**'अकल्पं नृपतिं प्रजाः'**—(श्रीमद्भा० १०। ४७। ७)

'छात्र भी अपने आचार्यसे तबतक ही प्रीति करते हैं जबतक कि विद्यार्जनका कार्य परिसमाप्त नहीं होता। अध्ययन समाप्त होनेपर फिर आचार्यकी याद भी नहीं करते; कारण, विद्याध्ययनरूपी स्वार्थोपसाधन-हेतु ही छात्र अध्यापकसे प्रीति करते थे, उसके अभावमें प्रीति टिकेगी कहाँ ? **'अधीतविद्या आचार्यम्'**। पुरोहित भी यजमानके प्रति तभीतक प्रीतिका निदर्शन करते हैं, जबतक कि दक्षिणा-दान प्राप्त नहीं हो जाता। **'ऋत्विजो दत्तदक्षिणम्'** (श्रीमद्भा० १० । ४७ । ७)। पुरोहितका हेतु था दक्षिणा-लाभ। उसके अदृश्य होते ही प्रीतिका फिर क्या अवलम्बन रहा ? पक्षिगण वृक्षसे प्रीति करते हैं, झुंड-के-झुंड आकर वृक्षकी शाखाओंपर वास करते हैं; किंतु कितने दिन ?—जबतक वृक्षपर फल लगे हैं। फल समाप्त हो जानेपर फिर एक भी पक्षी उस वृक्षकी दिशामें ताकता भी नहीं। उपाधि थी फल-भोग। फल गये, प्रीतिका अभिनय भी गया। पथिक पथ चलते-चलते गृहस्थके गृहपर आतिथ्य ग्रहण करता है। उस गृहीके प्रति पथिक तभीतक आदरका प्रदर्शन करता है, जबतक कि उसका भोजन-कार्य निष्पन्न नहीं हो जाता। भोजनरूपी स्वार्थ-सम्बन्ध लेकर ही गृहीके प्रति अतिथिकी प्रीति है। भोजनकी निष्पत्ति होनेके बाद फिर आदर करनेकी क्या आवश्यकता है ? **'खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्'**—(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ८)।

'मृगगण वनके प्रति तभीतक प्रीति-प्रदर्शन करते हैं, जबतक कि वन दावानलसे भस्म नहीं हो जाता। दावानल-दग्ध वनके प्रति मृगोंका कोई झुकाव नहीं रहता; कारण, अरण्यवासरूपी स्वार्थोपाधि-हेतु ही मृगोंका वनके प्रति प्रेम रहता है। जब वासरूपी उपाधि ही नहीं रही तो फिर वनसे क्या लेना-देना। इसी प्रकार सभी साधकोंपर सामयिक प्रीतिका अभिनय-मात्र होता है, वस्तुतः प्रीति नामकी कोई वस्तु वहाँ नहीं हुआ करती। भोगरूप उपाधि-हेतु ही मिलन होता है, उपाधिका अभाव होते ही परित्यागकी क्रिया सम्पन्न हो जाती है। यह सभी सहैतुकी, सकैतव, सोपाधिक प्रीतिके दृष्टान्त हैं; किंतु उद्धव ! हमने तुम्हारे प्रभुसे जो प्रीति की थी, उसमें कभी भी किसी प्रयोजन-सिद्धिकी अभिसंधि नहीं थी और उन्होंने भी हमें न जाने कितना प्यार दिया है, किंतु उनके प्रेममें भी हमें कुत्रापि किसी प्रयोजन-सिद्धिका आभासतक नहीं दीख पड़ा। यदि यही सत्य है तो फिर भी अहैतुकी, अकैतव प्रेममें भी विरहका ऐसा प्रबल संताप क्यों भोगना पड़ा ! कैतवका अर्थ है छलना। सुना है, कैतवहीन विशुद्ध प्रेममें विरह नहीं होता। उद्धव ! यदि तुम रसिक-शेखरके रसिक सखा हो तो इस प्रश्नका अवश्य उत्तर दे सकोगे और यदि इसका उत्तर नहीं दे सकोगे तो हम समझेंगी कि तुम अन्य शास्त्रोंके महान् पण्डित होते हुए भी रसशास्त्रसे नितान्त अनभिज्ञ हो।

'उद्धवजी ! हम श्रीकृष्णके विरह-हेतु जितनी व्याकुल हैं तदपेक्षा अधिक मर्माहत तो इस भावनासे हैं कि निरुपाधि प्रीतिमें भी कलङ्क लग गया। जिस प्रीतिमें तिलमात्र भी कृत्रिमता नहीं थी, उसकी परिणति भी ऐसे दुरन्त विरहमें क्यों हुई ? कृत्रिम प्रीतिके ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जिनमें प्रयोजन मिटते ही प्रीति अदृश्य हो जाती है। आज हमारी प्रीतिका भी जब यही अन्तिम परिणाम दीख रहा है, तब यह प्रीति भी कृत्रिम प्रीतिमें ही दीखेगी। सामान्यजन प्रायः इसी निष्कर्षपर ही पहुँचेंगे। लोग एक निर्दोष वस्तुको भी सदोष मान लेंगे। हमारी चरम परिणति देखकर फिर जगत्का कोई भी व्यक्ति हमारे प्राणनाथसे प्रेम नहीं करेगा। हाय ! संसारमें इसकी अपेक्षा दर्दनाक घटना और क्या हो सकती है ! उद्धवजी ! बोलिये तो सही, ऐसा क्यों हो गया ?'

श्रीमान् उद्धव महान् पण्डित हैं, 'सर्वशास्त्रपारङ्गत' हैं; किंतु इस प्रश्नका उत्तर दे पानेमें वे अपनेको पूर्णतया असमर्थ अनुभव कर रहे थे। ऐसा भी कोई प्रश्न उत्थापित हो सकता है, यह उनकी धारणासे अतीत था। उनके प्रभु श्रीकृष्णके सम्बन्धमें इस प्रकारकी जिज्ञासा भी कोई कर सकता है, यह उनके भावना-राज्यके सीमान्तमें भी नहीं था। स्तब्ध होकर उद्धव केवल उन अभिनव प्रश्नकर्त्री गोपीजनोंके वेदनापूर्ण एवं अभिमानपूर्ण वाक्य सुनने लगे। अपने जीवनभरमें उन्हें ऐसा कहीं भी कभी भी नहीं सुनना पड़ा था। विस्मयसे अवाक् होकर वे सुनते ही रहे।

व्रजाङ्गनाओंने कोई उत्तर न पाकर सोचा कि अरसज्ञसे रस-विषयक प्रश्न पूछ बैठना उनके पक्षमें नितान्त ही भूल हुई है। इसका फल भी केवल वेदना ही है। इन हतभागिनियोंको यह कौन बतायेगा कि व्रजसुन्दरने उनका त्याग क्यों किया है? इस प्रकार बोलते-बोलते उनके मन-प्राण, देहकी समस्त इन्द्रियाँ और वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-भावनामय हो गयीं। उनमें अब भला-बुरा समझनेकी सामर्थ्य ही नहीं रही—

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।९)

जिनका नाम ही है—कृष्ण, जिनका स्वभाव ही है—स्थावर-जंगम नर-नारी—सभीका आकर्षण करना, उन श्रीकृष्णके दूत उद्धवका दर्शन करके गोपियाँ निरतिशय-रूपसे व्याकुल हो गयीं। उनमें लौकिक विचार, व्यवहार, भावनाप्रभृतिका अस्तित्व बिन्दुमात्र भी नहीं रहा। अपरिचित तथा सद्यःपरिचित विदेशी उद्धवके सम्मुख ही वे निःसंकोच-भावसे श्रीकृष्णके साथ अपने रहस्यमय प्रेम-व्यवहारका वर्णन करती हुई आकुल-क्रन्दन करने लगीं—

'हा कृष्ण! हा व्रजनाथ! हा गोपीवल्लभ! हे आर्तिनाशक!' इस प्रकारके अत्यन्त मार्मिक और वेदनाभरे सम्बोधनोंसे पुकारती हुई व्रजगोपियाँ खड़ी हो गयीं। मथुराकी दिशामें मुख करके ऊर्ध्वबाहु होकर तीव्र व्यथाभरे शब्दोंमें कहने लगीं—'हे व्रजप्राण! एक बार मात्र आकर अपने व्रजकी दुर्दशा तो अपने नेत्रोंसे देख जाओ। बाल्यकालसे अद्यावधि हम तुम्हारे सिवाय किसी अन्यको नहीं जानतीं। तुम्हारी निजजन होकर भी आज हम घने शोकके गहरे समुद्रमें डूबी जा रही हैं। एक बार मात्र आकर अपनी श्रीचरण-तरणीके सहारे व्रजकी रक्षा कर लो।' इस प्रकारका उच्चस्तरीय विलाप देखकर अतिथि उद्धव क्या सोचेंगे, वह लोकलज्जा उनमें अब नहीं बची थी। तभी श्रीशुकदेवजीने कहा है, वे 'त्यक्तलौकिकाः' हैं। वे बेसुध और अत्यन्त विह्वल होकर प्राण-प्रियतम श्रीकृष्णकी मधुर बाललीलाओंका स्मरण करती हुई गुण-गान करने लगीं। मधुमय कैशोरावस्थामें श्रीकृष्णने उनके साथ जो माधुर्यमय लीलाएँ की थीं, वे एक-एक करके सब उनके स्मृति-पटलपर उदित होने लगीं। उन लीलाओंका स्मरण करती हुई व्रजवधुएँ उन्मादिनीकी तरह गाने लगीं—

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।१०)

उद्धव उन भावाविष्टा उन्मादिनी व्रजरामाओंकी तीव्र व्याकुलता-भरी आर्तवाणी सुनने लगे। ऐसी कथा, ऐसी व्यथा, ऐसी दारुण भाषा कभी किसी भी मनुष्यको कहीं भी श्रुतिगोचर नहीं हुई होगी। उद्धव अपने जीवनको अत्यन्त धन्य समझने लगे। उन्हींके निभृत कोनेमें मन-ही-मन कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

'जिनके कण्ठोंसे निःसृत हरिकथागीति तीनों भुवनोंको पवित्र करती है, उन व्रजाङ्गनाओंकी चरणरेणु

मस्तकपर धारण करके मैं अपने इस ज्ञान-शुष्क जीवनको सार्थक बनाता हूँ ।'

उच्चस्वरसे क्रन्दन करती हुई गोपियाँ कुछ कदम अग्रसर हुईं । उद्धवने उनका अनुगमन किया । निभृत निकुञ्जके अन्तरतम प्रदेशमें श्रीकृष्णविरहकी विग्रहवती श्रीअष्टसखियोंसे परिवृत होकर भूतलपर पड़ी हुई है । अन्यान्य सभी सखियाँ आकर उन्हें घेरकर बैठ गयीं । उद्धवने देखा कि मध्यस्थलमें एक अनन्य साधारण महादेवी-मूर्ति सोयी हुई है—

सखी-अङ्के हिम वपु रसना अवश ।
पाणितल धरातले शेष दशा दश ॥*
(हरिकथा)

विरह-वेदनाकी घनायित विग्रहवती-श्री अत्यन्त क्षीण-कण्ठसे सखियोंको सम्बोधन करती हुई कहने लगीं—'सखि ! क्या कहूँ, गोकुलपतिका विच्छेद-संताप **'विश्लेष-जन्यज्वरः'** कटाहमें उबलते तेलसे भी अधिकतर उत्तापयुक्त **'उत्तापी पुटपाकतोऽपि'** तीव्र ज्वालासे जला रहा है, कालकूट विषकी अपेक्षा भी अधिक चित्त-क्षोभकारी है **'गरलग्रामादपि क्षोभणः'**, वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण और कठोर शैल-सदृश वक्षको विदीर्णकर मर्मस्थानोंमें पीड़ा पहुँचा रहा है **'दम्भोलेरपि दुःसहः'** । यह जलन भीषण विसूचिका-रोगीको होनेवाली जलनसे भी कोटि-गुणा अधिक है । यह भयंकर विरह-संताप प्रतिक्षण मेरे मर्मस्थानोंको क्षत-विक्षत करता हुआ विदीर्ण किये दे रहा है **'मर्माण्यद्य भिनत्ति'** । सखि ! यह ताप अब और सहन नहीं होता । इस देहको जीवित रखनेका अब कोई प्रयोजन भी नहीं दीखता । इस व्यर्थ जीवनको अभी त्याग दूँगी ।' ललिता बोली—'राधे ! देह त्याग करनेसे ही क्या श्रीकृष्ण मिल जायँगे ?' श्रीमती बोलीं—'मेरा विश्वास है कि देह त्याग करके श्रीकृष्णको निश्चय ही पाऊँगी । मैंने पौर्णमासी देवीके मुखसे सुन रखा है, कि मनुष्य जिस संकल्पको लेकर देह त्याग करता है मृत्युके बाद उसे वही गति मिलती है । मेरा भरोसा इसीपर आधारित है । मैं इस दृढ़ संकल्पको हृदयमें धारण करके देह-त्याग करूँगी कि मृत्युके बाद मेरी देहमें जितना-सा मिट्टीका अंश है वह मथुराके उस पथकी मिट्टीमें जा मिले, जिसपर होकर प्राणनाथ नित्य आते-जाते हैं । इससे मैं उनके चरणकमलोंको नित्य अपने हृदयपर धारण कर सकूँगी । मृत्युके पश्चात् मेरे शरीरमें जितना जलभाग है वह मथुराके उस विहार-सरोवरके जलमें जा मिले, जिसमें मेरे श्यामसुन्दर नित्य स्नानावगाहन करते हैं । इससे स्नानकालमें मैं अपने प्राणप्यारेके अधरोंका चुम्बन कर सकूँगी । मेरी देहका तेजांश उस दर्पणमें जा मिले, जिससे मथुरेश स्नानके बाद नित्य अपना वदन-बिम्ब निहारा करते हैं । मेरी देहमें जो थोड़ी-सी वायुका अंश विद्यमान है वह मेरी मृत्युके पश्चात् श्रीकृष्णके तालवृन्तस्थित वायु-राशिमें मिल जाय और इस हतभागिनीकी देहका आकाश-अंश उस गृहके आकाशके साथ एकाकार हो जाय, जिस गृहमें मेरे प्राणजीवन रजनी व्यतीत करते हैं । मेरे मृत्युकालका यह संकल्प सार्थक होनेपर मैं मरकर ही अपनी समग्र सत्ता-द्वारा उन्हें प्राप्त कर लूँगी । इसकी अपेक्षा सुखकर और क्या हो सकता है ?'

—क्रमशः

(अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषणीवाल)

---

* 'हिम-सदृश ठंढा पड़ा शरीर सखीकी गोदमें लुढ़का पड़ा है, वाणी अवश है, हथेलियाँ भूमिपर निश्चेष्ट पड़ी हुई हैं । अन्तिम समय उपस्थित है ।'

भागवतीय प्रवचन ११—

द्रौपदीकी दया

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

सूतजी कहते हैं कि शौनकजी ! आप आश्चर्य मत करें; क्योंकि भगवान्‌के गुण ऐसे मधुर हैं कि वे सबको अपनी ओर खींच लेते हैं, फिर इनसे शुकदेवजीका मन आकर्षित हुआ, इसमें क्या नयी बात है ?

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

जो ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ऐसे मधुर हैं कि सबको अपनी ओर खींच लेते हैं। भगवान्‌के कथामृतका पान करते समय भूख और प्यास भी भूल जाती है, इसीलिये तो दसवें स्कन्धके पहले अध्यायमें राजा परीक्षित् भी कहते हैं कि पहले मुझे भूख और प्यास लगती थी, परंतु भगवान्‌के कथामृतका पान करते-करते अब मेरी भूख अदृश्य हो गयी है—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्॥

श्रीहरिकथारूपी अमृतका पान करते हुए मुझे यह दुःसह भूख भी पीड़ा नहीं दे रही है। मेरा पानी भी छूट गया है। भोजन भजनका साधनमात्र है, इसलिये भूख न सताये, इतना भोजन करना चाहिये—ऐसा सूतजी वर्णन करते हैं। इसके बाद यह कथा शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌को सुनायी। मेरे गुरुदेव भी वहाँ थे। उन्होंने यह कथा मुझे सुनायी। अब मैं यह कथा तुम्हें सुनाता हूँ।

श्रवण करो। अब मैं तुम्हें राजा परीक्षित्‌के जन्म, कर्म और मोक्षकी कथा तथा पाण्डवोंके स्वर्गारोहणकी कथा सुनाता हूँ। पाँच प्रकारकी शुद्धि बतानेके लिये पञ्चाध्यायिनी कथा आरम्भ करते हैं। पितृशुद्धि, मातृशुद्धि, वंशशुद्धि, अन्नशुद्धि और आत्मशुद्धि—जिनके ये पाँच शुद्ध होते हैं, उन्हींमें प्रभुदर्शनकी आतुरता जागती है। आतुरताके बिना ईश्वरदर्शन होता नहीं। राजा परीक्षित्‌में ये पाँच शुद्धियाँ मौजूद थीं। यह बात दिखलानेके लिये अगली कथा कही जा रही है। ७ से ११ अध्यायोंमें बीज-शुद्धिकी कथा है। बारहवें अध्यायमें परीक्षित्‌जीके जन्मकी कथा है। परीक्षित् कहेंगे कि यह कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। उत्तम श्रोता वे हैं जो भजनमें भूख और प्यास भूल जाते हैं।

प्रभु-भजनमें आनन्द आये तो भूख-प्यास भूल जाती है। आत्माकारवृत्ति हो जानेपर देहधर्मका भान नहीं रहता। कौरव और पाण्डवोंका युद्ध समाप्त हुआ। अश्वत्थामाने विचार किया कि मैं भी पाण्डवोंको कपटसे मारूँगा। पाण्डव जब सो जायँगे, तब उन्हें मारूँगा। अरे ! जिसे भगवान् रखें, उसे कौन मार सकता है ? प्रभुने सोये हुए पाण्डवोंको जगा दिया और कहा कि मेरे साथ गङ्गा-किनारे चलो। पाण्डवोंको श्रीकृष्णपर कितना दृढ़ विश्वास था। द्वारकानाथ जो कहते थे वे वही करते थे। वे कोई प्रश्न नहीं करते थे। पाण्डव स्वतन्त्र नहीं थे, अपितु प्रभुके अधीन थे। आजकल स्वतन्त्रताका अलग अर्थ करते हैं। जिसके जीवनमें संयम है, जो परमात्माके अधीन है, वही स्वतन्त्र है।

ऐसे पाण्डवोंके कुलमें परीक्षित्का जन्म हुआ है। पाण्डवोंको लेकर श्रीकृष्ण गङ्गा-किनारे आते हैं। प्रभुके कहनेपर भी द्रौपदीके पुत्र नहीं आये। बालकबुद्धि हैं न। वे बोले कि आपको तो नींद नहीं आती, हमें तो आती है। आपको जाना हो तो जाइये। परिणाम यह हुआ कि अश्वत्थामाने द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार दिया। दुःखमें समझदारी आती है।

प्रभुसे एकाध दुःख माँगो कि जिससे बुद्धि ठिकाने रह सके। जो सब प्रकारसे सुखी हो जाता है, वह दीन बनकर प्रभुके सामने नमन नहीं करता। आज श्रीकृष्ण निष्ठुर बने हैं। द्रौपदीके आँसुओंको देखते भी नहीं। आज द्रौपदी रो रही है, परंतु द्वारिकानाथको दया नहीं आती। द्रौपदीका रुदन श्रीकृष्णसे सहन नहीं होता था। पहले तो जब-जब आवश्यकता पड़ी, तब-तब द्रौपदीके आँसू पोंछने दौड़ते चले आते थे। यह जीव सब प्रकारसे सुखी हो, यह उचित नहीं। एक दुःख मनुष्यके हृदयमें होना ही चाहिये कि जिस दुःखमें विश्वास हो कि भगवान्‌के सिवा मेरा और कोई नहीं है।

हर एक महापुरुषपर दुःख आये हैं। परमात्माने सोचा कि पाण्डवोंको पृथ्वीका राज्य मिला है, संतति है और सम्पत्ति भी भरपूर है। सब प्रकारसे पाण्डव सुखी हों, यह ठीक नहीं है। पाण्डवोंको इस अति सुखमें सम्भवतः अभिमान हो जायगा तो उनका पतन होगा। ऐसे शुभ हेतुसे ठाकुरजी कभी-कभी निष्ठुर हो जाते हैं। सुखमें पाण्डव भगवान्‌को न भूलें, इसलिये उन्होंने उन्हें यह दुःख दिया। भगवान् दुःखमें जीवकी गुप्तरीति-से सहायता करते हैं। अश्वत्थामा और अर्जुनका युद्ध हो रहा है। अर्जुनने अश्वत्थामाको मारनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी, परंतु मारनेका साहस नहीं हो रहा था। गुरुपुत्र गुरुका स्वरूप है। अश्वत्थामाको बाँधकर, उसे खींचकर द्रौपदीके पास लाया गया। द्रौपदी आँगनमें बैठी पुत्रशोकमें डूबी हुई है। अश्वत्थामाकी यह दशा देख वह दौड़कर आयी। वह अश्वत्थामाको वन्दन करती है और कहती है कि मेरे आँगनमें ब्राह्मणका अपमान मत करो। अपने पाँच बालकोंकी हत्या करने-वालेको द्रौपदी वन्दन करती है। यह कोई साधारण वैरी नहीं है। पाँच बालकोंको मारनेवाला आँगनमें आया है, फिर भी वह ब्राह्मण है, इसीलिये प्रणाम करती है। आपका वैरी आपके घर-आँगनमें आया हो तो क्या आप 'जय श्रीकृष्ण' कहेंगे!

भागवतकी कथा सुन-सुनकर जीवनको सुधारिये। वैरकी शान्ति निर्वैरतासे होती है, प्रेमसे होती है, वन्दनासे होती है। वही वैष्णव है, जो वैरका बदला प्रेमसे देता है। 'जय श्रीकृष्ण'का अर्थ यह है कि मुझे जो कुछ दीखता है, सब कृष्णमय है। अश्वत्थामा सोचते हैं कि सचमुच द्रौपदी ही वन्दनीय है। मैं वन्दनीय नहीं हूँ। अश्वत्थामा कहते हैं—'द्रौपदी! लोग जो तुम्हारी प्रशंसा करते हैं, वह बहुत कम है। तुम वैरका बदला प्रेमसे देती हो।' द्रौपदीके गुणोंसे आज व्यासजी भी तन्मय बने हैं। वे द्रौपदीको इंगित कर कहते हैं 'वाम-स्वभावा' कोमल स्वभाववाली, सुन्दर स्वभाववाली। जिसका स्वभाव अति सुन्दर हो वही श्रीभगवान्‌को प्यारा है। शरीर जिसका सुन्दर हो वह ठाकुरजीको सर्वदा प्रिय नहीं लगता, परंतु जिसका स्वभाव सुन्दर है वह ठाकुरजीको सर्वदा प्रिय लगता है। स्वभाव सुन्दर कब बनता है! अपकारका बदला भी उपकारमें देंगे तब। द्रौपदी बोल उठी कि उन्हें छोड़ दो। उन्हें मारो नहीं, वे गुरुपुत्र

हैं। जो विद्या गुरु द्रोणाचार्यने अपने पुत्रको नहीं दी, वह आपको दी है। क्या आप यह सब भूल गये हैं? ब्राह्मण परमात्माका स्वरूप है। गाय लूली, लँगड़ी, बाँझ हो तो भी गायका शकुन माना जाता है। भैंसका शकुन कभी नहीं मानते। गाय और ब्राह्मण वन्दनीय हैं। द्रौपदी तो दयाका स्वरूप है। 'दयारूप' द्रौपदीके साथ जबतक हृदय शादी न करे तबतक श्रीकृष्ण उसके सारथि नहीं बनते। जीवात्मा अर्जुन गुडाकेश और श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं। यह जोड़ी तो इस शरीररूपी रथमें बैठी है। इन्द्रियरूपी घोड़ोंका रथ प्रभुको सौंपेंगे तो कल्याण होगा। इन्द्रियोंके स्वामी श्रीकृष्ण हैं—'हृषीकेश'। युधिष्ठिर धर्म हैं, भीम बल हैं। सहदेव-नकुल बुद्धि और ज्ञान हैं। इन चार गुणोंवाला जीव यह अर्जुन है। ये गुण कब शोभायमान होते हैं, जब (द्रौपदी) दया उनकी पत्नी बनती है, जीव (दया) द्रौपदीके साथ विवाह करता है तभी। द्रौपदी कब कैसे मिले? जब धर्मको बड़ा माने तभी। परमात्मा सारथि भी तब बनता है और उसीका होता है जो धर्मको बड़ा मानता है। आज तो लोग धर्मको बड़ा नहीं मानते। धनको बड़ा मानते हैं, उसी कारण संयम और सदाचार जीवनमेंसे निकल गये हैं। मानवजीवनमें धन मुख्य नहीं है, धर्म मुख्य है। धन धर्मकी मर्यादामें रहकर ही प्राप्त करना चाहिये। आपको कोई कार्य करना हो तो पहले धर्मसे पूछो कि यह कर्म करनेसे मुझे पाप तो नहीं लगेगा? आप अर्जुन-जैसा जीवन व्यतीत करोगे तो भगवान् आपका सारथि बनेगा। द्रौपदीने अश्वत्थामा-को बचाया और अर्जुनसे कहा—'इन्हें मार भी देंगे तो भी मेरे पाँच पुत्रोंमेंसे एक भी तो वापस नहीं आयेगा, परंतु अश्वत्थामाको मारनेसे उनकी माता गौतमीको अत्यन्त दुःख होगा। मैं अभी सधवा हूँ। अश्वत्थामाकी माता विधवा हैं। वे पतिकी मृत्युके बाद पुत्रके आश्वासन पर जीती हैं। वे जब रोयेंगी, तब मैं नहीं देख सकूँगी।' किसीका आशीर्वाद नहीं लें तो कुछ नहीं, किंतु किसीकी आह नहीं लेना चाहिये। कोई ठंडी साँस दे, ऐसा कोई कर्म नहीं करना चाहिये।

जगत्में दूसरोंको रुलाना नहीं, आप रो लेना। रोनेसे पाप जलता है। रोनेसे एक दिन परमात्मा सुनता है, कृपा करता है। रोनेसे सुखी हुआ जा सकता है। भीम अर्जुनसे कहते हैं, ऐसे बालहत्यारेपर भी दया होती है क्या? तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ गयी? द्रौपदी बार-बार कहती है 'मारना नहीं।' अब अर्जुन सोचमें पड़ गये। श्रीकृष्णने आज्ञा दी कि द्रौपदी जो कह रही है वही ठीक है। द्रौपदीके मनमें दया है। भीम-सेनजी कहते हैं कि मनुस्मृतिमें कहा है, आततायीको मारनेमें पाप नहीं। धर्मप्रमाणसे भी आततायीको—अश्वत्थामाको मारनेमें पाप नहीं। श्रीकृष्ण भी मनुस्मृति-को मान्य रखकर उत्तर देते हैं कि ब्राह्मणका अपमान भी उनकी मृत्युके बराबर है, अतः अश्वत्थामाको मारनेकी आवश्यकता नहीं है। उनका अपमान करके निकाल दो। अश्वत्थामाका मस्तक नहीं काटा गया, परंतु उनके माथेमें जो जन्मसिद्ध मणि थी, वह निकाल ली गयी। अश्वत्थामा तेजोहीन हो गये। भीमसेनने भी सोचा कि अब उसे मारनेसे क्या लाभ है? अपमान तो मरणसे भी विशेष है। अपमान प्रतिक्षण मारनेके बराबर है। अश्वत्थामाने सोचा, इससे तो मुझे मार दिया होता तो अच्छा था।

तुलसीश्याम-धाम—एक आकर्षक तीर्थ-स्थल

(ले०—श्रीमती सरला कौशिक)

श्रीतुलसीश्याम भगवान्‌के सौराष्ट्र (गुजरात)की भूमिपर प्रकट होनेकी एक कहानी है । श्रीश्यामजीने प्रभासक्षेत्रके मध्य 'तुल' नामक राक्षसका संहार करके पर्वतमें गुप्त-वास किया । भगवान्‌ने उस राक्षसकी अन्तिम इच्छाके अनुसार अपने नामके आगे उसका नाम जोड़कर उसे पवित्र बनाकर अमर कर दिया । प्रभुने इस स्थानकी प्रख्याति-हेतु योगी दूधाधारी रामचन्द्र भक्तको स्वप्न देकर पर्वतको खुदवाया तो रुक्मिणीजीकी मूर्तिसहित तुलसीश्याम भगवान् साक्षात् प्रकट हुए । इसके बाद मन्दिरकी स्थापना हुई । 'तुल' दैत्यका नाश करनेके लिये भगवान्‌ने जो सुदर्शन चक्र छोड़ा था, उस चक्र और भूमिके घर्षणसे पातालसे गर्म जलके झरने छूटे, जिनके कुण्ड बाँधे गये । यह मन्दिर एक हजार वर्ष प्राचीन है । मन्दिरकी पवित्र भूमि तीन हजार एकड़ है । इन सात गर्म कुण्डोंका बहुत माहात्म्य बतलाया जाता है । कहा जाता है कि इन कुण्डोंमें स्नान पवित्र नदियोंके स्नान-तुल्य है । कुण्डके पूर्वभागमें एक त्रिकोणाकार पर्वत है, जिसके शिखरपर श्रीलक्ष्मीजी और श्रीरुक्मिणीजीकी मूर्ति विराज रही है । तुल-धामका वातावरण चारों ओरसे पवित्र एवं आकर्षक है ।

भारतके पवित्र भू-खण्डोंके विषयमें वेद-पुराणोंमें जिन प्रसिद्ध क्षेत्रोंका उल्लेख है, उनमें प्रभासक्षेत्र सर्वश्रेष्ठ है । इसी प्रभासक्षेत्रमें तीन पर्वतोंके मध्य श्रीतुलसीश्यामजी प्रतिष्ठित हैं । इस पवित्र स्थानके चारों ओर घने हरे-भरे जंगल हैं । चारों ओरसे हरियाली लहलहाती है, मानो श्रीजीके भक्तिभावमें विभोर हो रही हो । भाद्रपद सुदी एकादशीको इस स्थानपर भारी मेला लगता है । सावनकी छटा उन दिनों अच्छी तरह शोभा वह होती है, मानो भक्तोंका आह्वान करती है । प्रातःकाल शान्त और पवित्र वातावरणमें पक्षियोंकी चहचहाहटका मनोरम संगीत बड़ा ही सुहावना लगता है । इन जंगलोंमें श्रीश्यामजीकी कृपासे बाघ स्वतन्त्र विचरते हैं, पर किसी प्राणीको हानि नहीं पहुँचाते । यहाँका सूर्योदय अत्यन्त सुन्दर एवं आँखोंको आनन्ददायक होता है । इस तरहका नैसर्गिक ऋतु-सौन्दर्य लोगोंके मनमें भक्ति-भावनाको उल्लसित करता है । धार्मिक पवित्रता एवं शान्तिमें ओत-प्रोत यह सारा नैसर्गिक सौन्दर्य परम आनन्दमय है; उसपर श्रद्धासे भगवान्‌के दर्शन एवं पवित्र करनेवाले सर्वकाल गर्म जलसे भरे ये सात कुण्ड—इतने आकर्षक हैं कि इन्हें शब्दोंमें बाँधना असम्भव है । तुलधामसे डेढ़ मील दूर 'भीमवास' नामक ऐसा ही सुन्दर स्थान है, जहाँ कुछ संत आश्रममें रहते और आगन्तुक भक्तोंका भावपूर्ण आदर करते हैं । इन्हींके अधीन श्रीतुलसीश्याम भगवान्‌की संस्थाका कार्यभार है । अनेक लोग यहाँ नैसर्गिक सौन्दर्यके सुखमें भजन गाते हैं ।

श्रीतुलसीश्याम—तीर्थ-धामतक पहुँचनेके लिये सरकार-द्वारा बसोंकी व्यवस्था है । राजकोट, जूनागढ़, बम्बई, सावरकुंडला, ऊना, दीव, राजुला, अहमदाबाद, अमरेली आदिसे बसें जाती हैं । यह तीर्थ-धाम अत्यन्त सुख एवं शान्तिमय वातावरणसे ओतप्रोत है । भगवान् और प्रकृतिके उपासक प्रत्येक भावुक तीर्थयात्रीके लिये प्रभासक्षेत्रकी यात्राके संदर्भमें इस स्थानपर पहुँचकर श्रीतुलसीश्याम भगवान्‌का दर्शन-पूजन करना अत्यन्त आनन्दप्रद होगा ।

व्यावहारिक जीवनमें नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक

(लेखक—श्रीविश्वनाथजी पाठक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, प्राकृताचार्य)

[जीवनका कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं, जहाँ कल्पित नाम, रूप, स्थापना और प्रतीकका अस्तित्व न हो। इनके सर्वथा असत् होनेपर भी बड़े-बड़े संतों और मनीषियोंको भी व्यवहारक्षेत्रमें इनका आश्रय लेना ही पड़ता है। भगवदाराधनके लिये मूर्तिपूजा तात्त्विक दृष्टिसे भी अनिवार्य है। अतः कुछ लोगोंद्वारा प्रतीक या मूर्तिपूजाका विरोध करना उचित नहीं हो सकता। प्रस्तुत लेखमें विद्वान् लेखकने व्यवहार, शास्त्र और विज्ञानके क्षेत्रमें इनकी सत्ता मानकर व्यवहार करनेके उदाहरण विद्वत्तापूर्ण ढंगसे प्रस्तुत किये हैं और इस प्रतीक-पद्धतिमें भी मूर्तिपूजाका औचित्य विरोधियोंके गले उतारनेका सत्प्रयास किया है। लेख कुछ बड़ा होनेके कारण दो अङ्कोंमें दिया जा रहा है।—सम्पादक]

प्रायः जीवनमें प्रयोजन-सिद्धिके लिये बहुत-सी काल्पनिक मान्यताएँ अपरिहार्य बन जाती हैं। नाम, रूप, स्थापना और प्रतीक ऐसी ही मान्यताएँ हैं। यथार्थ न होनेपर भी इन असत् मान्यताओं और मूल्योंको अस्वीकार करना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। ज्ञानी, मूढ़, साधु-असाधु, शिक्षित-अशिक्षित कोई भी समाजमें रहकर साँसें लेता है तो इन विभूतियोंकी अनुल्लङ्घनीय लक्ष्मण-रेखाको लाँघ नहीं सकता। व्यवहारमें प्रत्येक द्रव्यका एक 'नाम' होता है। यह नाम न तो वस्तुनिष्ठ अर्थात् द्रव्यमें विद्यमान है और न वक्तृनिष्ठ अर्थात् वक्तामें विद्यमान है। यदि द्रव्यमें रहता तो वहाँ उसकी उपलब्धि अवश्य होती। उच्चारणके पूर्व और पश्चात् अविद्यमान रहनेके कारण उसे वक्तृनिष्ठ भी नहीं कह सकते। ध्वनि-भिन्न द्रव्यका ध्वनिके साथ तादात्म्य स्थापित करना ही 'नामकरण' है। यह तादात्म्य नितान्त कल्पित है; क्योंकि नाम वर्णात्मक ध्वनिके रूपमें होनेके कारण स्थूल द्रव्यसे स्वरूपतः भिन्न होता है। नामी अर्थात् (द्रव्य) का दर्शन होता है जबकि नामका श्रवण। आँख मूँद लेनेपर नामी (स्थूल द्रव्य) अदृश्य हो जाता है, किंतु नाम तब भी सुनायी देता है।

दार्शनिकोंने द्रव्योंको 'गुणाश्रय' कहा है। नाम द्रव्यका गुण भी नहीं है; क्योंकि इन्द्रियसे उसका प्रत्यय स्वतः नहीं होता। द्रष्टा देखते ही द्रव्यको जान लेता है, किंतु उसका नाम दूसरोंसे पूछना पड़ता है। ईश्वर, जीव आदि सूक्ष्म द्रव्य इन्द्रियातीत, नित्य और अनुत्पाद्य हैं, किंतु उनके नाम इन्द्रिय-ग्राह्य, अनित्य और प्रयत्नोत्पाद्य हैं।

नाम न तो नामीमें संयुक्त है और न समवेत ही। अतः 'कमल' नाममें जिन क, म और ल ध्वनियोंका संनिपात सुनायी देता है, उनकी उपलब्धि कमल द्रव्यके किसी भी भागमें नहीं होती। नाम और नामीमें आर्थिक अन्विति भी ध्रुव नहीं है। अतएव अधिकांश नाम झूठे होते हैं। 'आशादेवी' के दिन निराशामें ही बीतते हैं। 'आलोक' के घरमें अँधेरा रहता है।' 'विद्यासागर'की मूर्खताकी चर्चा घर-घर होती है। 'कुबेर' सड़कोंपर भीख माँगता फिरता है और दर-दर ठोकरें खानेवाले 'मिठाईलाल' के जीवनमें कटुता ही दिखायी देती है।

नामीके रहनेपर नामका भी रहना अनिवार्य नहीं है। वनों और गाँवोंमें असंख्य कीट, पतंग, सरीसृप (साँप), तृण, गुल्म, विहंग, वीरुधा (लता) और वनस्पतियाँ बिखरी पड़ी हैं, जिनका अभीतक नामकरण ही नहीं हुआ है। नामी (द्रव्य) के अभावमें नामका भी अभाव हो जाना आवश्यक नहीं। महात्मा गाँधी

अब नहीं रहे, किंतु उनका नाम कोई कभी भी ले सकता है। इस प्रकार नाम और नामीमें अन्वय और व्यतिरेक भी नहीं है। बालक 'अनाम' ही उत्पन्न होता है, नाम बादमें रख दिया जाता है। कभी-कभी तो वह पुराने वस्त्रके समान बदला भी जा सकता है।

शब्दशास्त्रमें प्रतिपादित नाम और नामीका ज्ञाप्य-ज्ञापक-भावसम्बन्ध भी व्यभिचार-दोषसे मुक्त नहीं है। 'कम्बु' शब्द संस्कृतमें शङ्खका और तमिलमें घड़ीका ज्ञापक है और वही एक अशिक्षित मूर्खकी दृष्टिमें सर्वथा निरर्थक है। हिंदीमें 'फुलकी'का अर्थ रोटी होता है तो बंगलामें चिनगारी। किसी अन्य प्रान्तमें चले जाइये तो उसका कुछ भी अर्थ नहीं समझा जायगा। हिंदी और संस्कृतमें जो 'शरीर' शब्द देहका वाचक है, वही अरबीमें दुष्ट (नटखट)का अर्थ देता है। अन्य भाषामें वही अर्थहीन भी हो सकता है। अंग्रेजीके बहुत-से शब्द हिंदीमें दूसरा अर्थ देते हैं। इस प्रकार एक ही आकृतिवाले शब्दोंकी ज्ञापकतामें आकाश और पातालका अन्तर है।

इतना ही नहीं, कभी-कभी ज्ञापकके रहनेपर भी ज्ञाप्यका ज्ञान नहीं होता। भारतीय शब्द ईरान और चीनमें तबतक कोई अर्थ नहीं प्रकाशित कर सकते जबतक उनका द्रव्यों, क्रियाओं और गुणोंसे आरोपित एवं सांकेतिक सम्बन्ध न बताया जाय। एक ही भाषा-क्षेत्रमें दस-पंद्रह कोसोंकी दूरीपर बहुत-से शब्द नहीं समझे जाते और बहुत-से शब्दोंके अर्थ बदल जाते हैं।

नाम और नामीके सम्बन्धकी अव्याप्ति उस समय और स्पष्ट हो जाती है जब हम किसी शब्द (नाम)का प्रयोग ऐसे द्रव्यके लिये करते हैं जिसके लिये उसे मान्यता नहीं मिली है। घरमें जब किसी सेवकसे कोई बड़ी भूल हो जाती है, तब न तो उसके चार पैर निकल आते हैं और न पीछे पूँछ ही उग जाती है। फिर भी बाहर 'सत्यं वद, धर्मं चर' का उपदेश देनेवाला महोपदेशक भी उसे 'गदहा' कहनेमें नहीं चूकता। गाँवका अध्यापक बच्चोंको 'क माने कौआ' और 'अ माने आम' पढ़ाता है। जरा उससे पूछिये कि ये अर्थ उसने किस शब्दकोशमें देखे हैं ? रेखागणितमें रेखाओं, कोणों और त्रिभुजोंके नामोंमें कितनी सत्यता है, इसे यदि जानना चाहें तो घरकी दीवारों, कोनों और किसी भी त्रिभुजाकार आकृतिको देख लें।

अबोध बालक पूर्वसिद्ध द्रव्योंको प्रत्यक्ष देखता है। तब उसे द्रव्यों और शब्दोंका सांकेतिक सम्बन्ध ज्ञात नहीं रहता। धीरे-धीरे वह परिवार और समाजके साहचर्यमें रहकर तत्-तत् द्रव्योंका तत्-तत् शब्दों (ध्वनियों) से कृत्रिम सम्बन्ध समझता और वैसे ही शब्दोंका उच्चारण करना सीखता है। तब कहीं जाकर उसमें वाक्-शक्ति स्फुरित होती है। यदि वही बालक समाजसे पृथक् कर दिया जाय तो गूँगा हो जायगा। यदि नामकी आकृति निश्चित होती और उसका नामीसे ध्रुव सम्बन्ध होता तो जैसे द्रव्योंका प्रत्यक्ष-संवेदन स्वाभाविक है वैसे ही भाषण भी स्वाभाविक होता, उसके लिये पृथक् प्रयत्नकी आवश्यकता न पड़ती। बाल्यकालके प्रयत्नोंकी स्मृतियाँ स्थिर नहीं रह पातीं, अतः मातृभाषा स्वाभाविक-सी लगती है; किंतु जब कोई विदेशी भाषा सीखनी पड़ती है, तब पता चलता है कि यह कार्य कितना आयास-साध्य है।

एक ही नामीके विभिन्न भाषाओंमें विभिन्न नाम हैं। यदि नामका नामीसे निश्चित और सत्य सम्बन्ध होता तो सभी देशों और कालोंमें एक द्रव्यका एक ही नाम रहता, परंतु एक द्रव्यके विभिन्न देशों और कालोंमें अनेक नाम पाये जाते हैं। अतः सभी कल्पित हैं और सभी मिथ्या हैं।

उपनिषदोंने ईश्वरको 'अशब्द' कहा था; किंतु उस 'अशब्द' अव्यपदेश्य परात्पर शक्तिके भी विभिन्न भाषाओंमें अनेक अलीक नाम गढ़ लिये गये हैं। कोई उसे 'अल्लाह' कहता है, कोई 'गॉड' तो कोई 'ईश्वर'। ये ही कल्पित और झूठे नाम संसारके नाना सम्प्रदायोंमें प्रचलित उपासना-पद्धतिके मूलाधार हैं। यदि हम यथार्थके मदमें आकर अयथार्थ मान्यताओंको ठुकरा दें तो भजन, कीर्तन, स्तुतियों और प्रार्थनाओंके बंद हो जानेका महान् संकट उपस्थित हो जायगा।

परमार्थ निर्विकल्पक भी हो सकता है, किंतु व्यवहार सर्वथा सविकल्पक है। हम उसके लिये न केवल कल्पित नाम गढ़ते हैं, अपितु कल्पित रूप भी गढ़ते रहते हैं। यथार्थ दृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य 'सत्' है, सत्ता ही उसका लक्षण है, किंतु व्यवहारमें एक ही द्रव्यमें अनेक कल्पित नाम और रूप प्रकट हो जाते हैं। मृत्तिकासे घट, शराव, कुण्ड, चषक, हाथी, घोड़े तथा अन्य खिलौनोंकी आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। सुवर्ण कुण्डल, कटक, केयूर, किंकिणी, किरीट, दीनार, निष्क प्रभृति रूपोंमें परिणति प्राप्त करता है। नाना तन्तुओंके संयोगसे पटका प्रादुर्भाव होता है। ये सभी आकृतियाँ मानव-निर्मित हैं, द्रव्यमें प्रारम्भसे नहीं रहीं। इस प्रकार मानव प्रकृतिसे उपादानके रूपमें प्राप्त द्रव्योंको आवश्यकतानुसार नाना रूपोंमें परिष्कृत और परिणत करता रहता है, फिर भी उन रूपोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है; क्योंकि ध्वंसके पश्चात् सभी कल्पित एवं वितथ रूप विलीन हो जाते हैं, द्रव्य ही शेष रहता है।

इस प्रकार यद्यपि नाम और रूप दोनों ही आरोपित हैं, सत्य नहीं हैं, फिर भी उनके अभावमें काम चलना असम्भव है। तन्तु माँगनेपर पट नहीं मिलता, यद्यपि तन्तु ही पट है। मृत्तिका माँगनेपर घट नहीं मिलता, यद्यपि मृत्तिका ही घट है और सुवर्ण माँगनेपर कोई कुण्डल नहीं पा सकता, यद्यपि सुवर्ण ही कुण्डल है। व्यावहारिक परिधिमें नाम और रूपकी सत्ता सर्वमान्य है; परंतु मूलद्रव्य ही 'सत्' है, पर्याय (विकार) नहीं, इसे मूर्ख भी जानता है। दीपावलीमें चीनीके हाथी, घोड़े और ऊँट बिकते हैं; किंतु बच्चे भी उन्हें हाथी, घोड़े और ऊँट समझकर नहीं खाते, चीनी समझकर ही खाते हैं। परंतु प्रयोजनोंकी सिद्धि द्रव्यमात्रसे सम्भव नहीं है, (कृत्रिम) नाम और रूप भी आवश्यक हैं। अतः हमारे प्राप्य द्रव्य ही नहीं, कृत्रिम नाम और रूप भी हैं। कंकण चाहनेवाला सुवर्ण पाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता और न घट चाहनेवाला मृत्तिका-पिण्डसे; क्योंकि द्रव्य पर्यायके रूपमें परिणत होकर ही व्यवहार्य बनता है। मृत्तिकापिण्डमें नहीं, घटमें ही जल भर सकते हैं। तन्तुसे नहीं, पटसे ही तन ढँकना सम्भव है। अतः नाम और रूपकी व्यावहारिक सत्ता अपरिहार्य है।

मानव द्रव्यके अभावमें रूपमात्रसे संतुष्ट हो जाता है। काठका घोड़ा कभी घास नहीं खाता, सवारको लेकर वह दौड़ भी नहीं सकता, परंतु कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं दिखायी देता, जिसने उसे मिथ्या समझकर फेंक दिया हो। द्रव्यके अभावमें रूपका आकर्षण विलक्षण है। बुद्ध और महावीर अब नहीं हैं, फिर भी उनकी पाषाण-प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं। उन प्रतिमाओंमें बुद्ध और महावीर कहाँ हैं! उन्हें तो निर्वाण या कैवल्य प्राप्त हो चुका है। बुद्ध और महावीर तो सावयव थे, निरवयव और निराकार ईश्वरकी भी प्रतिमाएँ बनती हैं। ताशके पत्तेपर बादशाहके पास फौज नहीं रहती, बीबी बच्चे नहीं देती और न गुलाम आज्ञा ही पालता है। फिर भी वे बादशाह, बीबी और गुलाम कहे जाते हैं।

जिसने मानवको पशुत्वसे ऊपर उठाकर सभ्य बनाया है और जो आदिकालसे विश्वके कोने-कोनेमें अखण्ड ज्ञानालोक प्रज्वलित करती आयी है, वह भाषा भी अलीक रूपके व्यामोहसे मुक्त नहीं रह सकी। संसारकी समस्त समुन्नत भाषा-लिपियाँ एक स्वरसे जीवनमें रूपकी अनिवार्यताका उद्घोष कर रही हैं। रूपहीन ध्वनियाँ ही अक्षर या वर्ण हैं, परंतु विभिन्न लिपियोंमें उन निराकार वर्णोंकी भी पृथक्-पृथक् कल्पित आकृतियाँ गढ़ ली गयी हैं। विभिन्न लिपियोंमें एक ही ध्वनिके ये पृथक्-पृथक् आकार मानवकी स्वच्छन्द कल्पना-प्रियताका परिचय देते हैं। देखिये—

देवनागरी	फारसी	रोमन	तामिल
प	پ	P	ப
ट	ٹ	T	ட

—ये तो कुछ उदाहरण हैं। विश्वमें बहुत-सी भाषाएँ हैं और उनकी अनेक लिपियाँ हैं। एक ही ध्वनिकी आकृतिके सम्बन्धमें पर्याप्त मतभेद ही सबके मिथ्यात्वका प्रमाण है। फिर भी इन्हीं मिथ्या एवं कल्पित वर्णाकृतियोंमें कुरान, बाइबिल, वेद, त्रिपिटक और जैनागम प्रभृति प्रमाण-ग्रन्थ लिखे गये हैं।

संख्याका भी कोई आकार नहीं है, वह केवल बुद्धि-विकल्प है। वस्तुवादी गणितज्ञोंने उसे भी साकार बनाकर छोड़ा है। देखिये—

देवनागरी	फारसी	रोमन
६, ७, ८, ९	٦, ٧, ٨, ٩	6, 7, 8, 9

—इन अमूर्त संख्याओंके साथ-साथ बहुत-से अमूर्त गुणों और क्रियाओंकी भी आकृतियाँ बनायी गयी हैं। जैसे—

संयोग	+
वियोग	—
गुणन	×
विभाग	÷
साम्य	= =

किसी विद्यमान वस्तुकी कल्पित आकृति गढ़ लेना तो समझमें भी आता है, किंतु वास्तववादी गणितज्ञोंने असत् एवं अवस्तुरूप अभावको भी वर्तुलाकार शून्य (०) की आकृति प्रदान की है। अर्थशास्त्रकी एक पुस्तकमें निम्नलिखित आकृति दी गयी है।
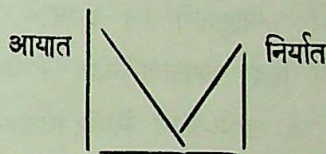
—बताइये, अर्थशास्त्रियोंके अतिरिक्त आयात और निर्यातका यह आकार क्या किसी औरने कभी देखा है?

भौगोलिक मानचित्रोंमें देशों, मैदानों, पर्वतों, नदियों, समुद्रों, मरुस्थलों, खानों और रेलवे लाइनोंको विभिन्न रेखाओं और वर्णोंके माध्यमसे दिखाया जाता है। वस्तुतः वहाँ उनमेंसे एक भी वस्तु नहीं रहती। विज्ञानमें भी रूपहीन गैसों और ऊर्जाओंको स्थूल चित्रोंके द्वारा समझानेकी परम्परा है।

(—क्रमशः)

तर्पणसे पितरोंकी तृप्ति

(लेखक—श्रीनीलकण्ठजी नायक)

आश्विन चान्द्रकृष्णपक्षकी प्रतिपदासे अमावास्या-तकका समय पितृपक्ष कहलाता है । इस पक्षमें सनातन धर्मावलम्बी अपने दिवंगत पितरोंको, पूर्वजोंको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए मन्त्रोच्चारणपूर्वक तिलसहित जलाञ्जलि प्रदान करते हैं । इस अवसरपर अपने पिताकी मृत्यु-तिथिपर पार्वण श्राद्ध करते हैं । विश्वास किया जाता है कि इन सत्कृत्योंके द्वारा पितरोंकी तृप्ति होती है । इस पक्षमें भारतके विभिन्न प्रान्तोंसे तथा विदेशोंमें निवास करनेवाले श्रद्धालु हिंदू गया-धाममें पितरोंकी मुक्तिके लिये पिण्डदान भी करते हैं ।

महालय (पितृपक्षका अन्तिम दिन अमावास्या) को हिमालयसे कन्याकुमारी एवं द्वारकासे गङ्गासागरतकके धर्मानुरागी हिंदू पुण्यतोया नदी, सरोवर, समुद्रतटों, तीर्थोंपर या अपने-अपने निवास-स्थलोंपर ही भक्तिनम्र चित्त एवं आवेगकम्पित कण्ठोंसे मनोरम छन्दोंमें छन्दायित मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए श्रद्धापूर्वक तिलसहित जलाञ्जलि अर्पण करते हैं ।

'तर्पण-पद्धति'द्वारा न केवल देवों, ऋषियों एवं मनुष्योंको प्रत्युत अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके चराचर प्राणियोंको, पशु-पक्षी, वृक्ष-लतातकको जलाञ्जलि दी जाती है । आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त जगत्के दिवंगत प्राणियोंकी तृप्ति-हेतु प्रदत्त जलाञ्जलि भारतीय संस्कृतिकी महत्ता, उदारता एवं विलक्षणताका द्योतक है । कितनी उदार एवं गौरवपूर्ण संस्कृति एवं सभ्यता है हमारी, जो किसी भी जन्ममें हमारे संगी-साथी, आत्मीय-बान्धव रहे होंगे, उन्हें भी जलाञ्जलि अर्पित की जाती है ।

पितरोंकी तृप्ति-हेतु प्रदत्त सतिलोदक अञ्जलिरूपी यह पवित्र अनुष्ठान ही तर्पण कहा जाता है । हमारा हिंदूधर्म विश्वके ऐसे सनातन प्राचीनतम आचार-पद्धति-संयुक्त धर्मरथपर चालित है, जिसकी तुलनामें उच्चादर्श, महान् लक्ष्य और उन्नत उदार संस्कार अन्यत्र दुर्लभ है ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

—यह उद्घोष भारतीय उच्चादर्शका सर्वमान्य सिद्धान्त एवं समभावका प्रतिपादक समाजवादका जीवंत आदर्श है । हम हिंदू भी अपने धर्मपर निष्ठावान् होते हुए परधर्मके प्रति सहनशील एवं श्रद्धालु हैं । किसी भी धर्मकी निन्दा या आलोचना करना हमारी धार्मिक शिक्षाओं, भावनाओं एवं मान्यताओंके प्रतिकूल है ।

आजका संस्कार-संस्कृतिसे वञ्चित शिक्षासे शिक्षित वर्ग हमारे धार्मिक आचरणों एवं अनुष्ठानोंके प्रति आस्थावान् नहीं, अपितु आस्थाशिथिलताके झूलेमें दोलायमान है । 'तर्पण' के रहस्य, महत्त्वको समझ न पानेके कारण इस तर्पण-अनुष्ठान-पद्धतिके प्रति श्रद्धाशील नहीं, प्रत्युत कोई-कोई तो कटु आलोचक भी बने दीखते हैं । उनका तर्क है कि क्या मृत व्यक्ति भी पानी पीता या भोजन करता है ? फिर उनकी तृप्ति-हेतु तर्पण या श्राद्धकी क्या आवश्यकता है ? उन तार्किकोंसे विनम्र निवेदन है कि क्या मृत व्यक्तिकी फोटोपर माल्यार्पण कर, जन्म या मृत्युके दिवसपर स्तुति-के साथ फूल चढ़ाकर जो श्रद्धा निवेदित की जाती है, उन्हें वे प्राप्त करते हैं या देख पाते हैं ? यदि नहीं तो इसका क्या प्रयोजन है ?

किंतु हमारा धर्म, हमारी संस्कृति कहती है कि पूर्वजोंके स्मरणसे श्रद्धा-निवेदनसे, हम अपना ही कल्याण साधन करते हैं एवं उनके आचरणों, आदर्शोंको मानते हुए शिक्षा ग्रहण करते हुए कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं। गुरुजनों एवं पितरोंको श्रद्धाञ्जलि अर्पितकर हम आयु, कीर्ति, बल, तेज, धन, पुत्रादिकी प्राप्तिरूपी आशीर्वाद लाभ करते हैं। पितरोंकी प्रीति और प्रसन्नतासे देवता भी प्रसन्न होते हैं। हम मानते हैं कि श्रद्धापूर्वक किया गया कार्य ही सत् एवं अश्रद्धापूर्वक किया गया कोई भी अनुष्ठान असत् होता है।

महालयाकी पुण्यतिथि या पितृपक्षके दिनोंमें आजकल अधिकतर धर्मानुरागी साधारणतया तर्पण-कार्य ही कर पाते हैं। नाना कारणोंसे—विवशताओं एवं महँगाईसे पीड़ित लोगोंके संघर्षपूर्ण भाग-दौड़के जीवनमें पार्वण श्राद्ध, षोडश पिण्डदान या ब्राह्मण-भोजन कराना सम्भव नहीं हो पाता, पर हमें कम-से-कम तर्पण तो अवश्य ही करना चाहिये। इसमें बहुत अधिक समय या अर्थ नहीं लगता।

जो हो, 'तर्पण'में व्यवहृत अनुपम मन्त्रोंका तात्पर्य हृदयंगम करनेसे मनमें एक महान् भावका संचार होता है तथा हमें यह ज्ञात होता है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-व्यापी अखण्ड चैतन्यके साथ हम भी एक सूत्रमें ग्रथित हैं तथा उस विशाल सृष्टिके ही एक क्षुद्रतम अंश हैं। कितनी उदात्त एवं दिव्य भावना है— **'मया दत्तेन तोयेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम्।'** त्रिभुवनकी सारी सत्ता तृप्त हो, हम यही आकुल प्रार्थना करते हैं। अपने कुलके उन दिवंगत आत्माओंकी तृप्ति-हेतु भी जलाञ्जलि प्रदान की जाती है, जिनकी वंश-परम्परा लुप्त हो गयी है या जिनकी स्मृति विस्मृतिके अतल गह्वरमें विलुप्त हो गयी है। तर्पणकारोंकी एक ही आन्तरिक आकुल प्रार्थना होती है कि जिनके उद्देश्यसे जलाञ्जलि प्रदत्त होती है, वे सब तृप्त हों, प्रसन्न हों एवं उनकी आत्माओंको शान्ति मिले। पितृपक्षका समापन अमावास्याको होता है, जिसे हम 'महालया'के नामसे जानते हैं।

तर्पण-अनुष्ठान-पद्धतिमें देवतर्पण, ऋषितर्पण, मनुष्य-तर्पण, यमतर्पण आदि संयोजित हैं। कुरुकुलसिंह भीष्मको जलाञ्जलि अर्पित करते हुए हम महाभारतकालके उन युगपुरुषके शौर्य, वीर्य, चरित्र, ज्ञान एवं दृढ़ताके अतुलनीय गुणोंको ही कृतज्ञतासहित स्मरण करते हैं। जिन्होंने अपने देव-तुल्य पिताके संतोष एवं सुखके लिये स्वेच्छासे राज्यका त्याग किया, आजीवन ब्रह्मचारी बने रहनेका व्रत निभाया, उन संततिविहीन महापुरुषको हम श्रद्धावनत हो स्मरण करते हैं।

श्रीराम एवं लक्ष्मणद्वारा वनवासकालमें प्रदत्त संक्षिप्त तर्पणमन्त्रकी भाव-भाषा अतुलनीय मनोरम एवं महान् आदर्शसे ओत-प्रोत हमारी उच्च संस्कृतिकी भव्यताको ही प्रदीप्त करती है। अब आइये, इस महालयाके पावन पर्वपर तर्पणकारियोंके साथ कण्ठसे कण्ठ मिलाकर मन्त्रको दुहराते हुए पितरोंकी तृप्ति एवं प्रसन्नताके लिये प्रार्थना करें—

पितृन्नमस्ये दिवि ये च मूर्ताः
स्वधाभुजः काम्यफलाभिसन्धौ।
प्रदानशक्ताः सकलेप्सितानां
विमुक्तिदा येऽनभिसंहितेषु॥
मातृपितृचरणकमलेभ्यो नमः।

हिंदू नामोंके उच्चारणमें लज्जा क्यों ?

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'आपके अधिकारीका क्या नाम है ?'

'बी०लाल। किंतु आप उन्हें लाल साहब कह सकते हैं।'

मैं इंजीनियर बी० लालसे मिला तो वे बिल्कुल अंग्रेज साहबोंकी तरह मिले तथा बातचीतके बीच-बीचमें अंग्रेजीके शब्दोंका प्रयोग कर मुझपर अपनी अंग्रेजियत और विद्वत्ताकी शान गाँठते रहे।

बाहर आकर उनके नामके विषयमें जाननेकी मेरी जिज्ञासा बढ़ी। मैंने पूछा तो विदित हुआ कि उनका सीधा-सादा नाम 'बजरंगलाल' था, किंतु उसे आधुनिक बनानेके लिये वे 'बजरंग'के स्थानपर केवल 'बी०' लिखना अधिक पसंद करते हैं, मानो 'बजरंग' लिखना या कहना लज्जाकी बात हो !

'डाक्टर एच्० के० गुप्ताका मकान कौन-सा है ?'

'अरे साहब! एच्०के० साहबको कौन नहीं जानता। आप आगे निकल जाइये, दस-पंद्रह मकान आगे उनके नामका बोर्ड लगा है—'एच० के० गुप्ता'। जब हमने उस शौकीनी कालोनीके बोर्ड पढ़े, तब अनेक नाम इस प्रकार मिले, जैसे—जी० शंकरन्, सी० आर० शर्मा, एन्० परमार, एल्० नारायण आदि। सभीमें अंग्रेजीके ए०, बी०, सी०, एल्०, आर० आदि अक्षर थे।

जब इनके पूरे नामोंका पता चलाया, तब वे इस प्रकार थे—हरिकृष्ण गुप्त, गोपाल शंकरन्, सीताराम शर्मा, नारायणलाल परमार, लक्ष्मीनारायण आदि। सभी नामोंके प्रारम्भमें भगवान्के नाम, पवित्र ध्वनि, हिंदू-संस्कृतिका सुवास, सुरुचि, अर्थगौरव भरा हुआ था।

*

अंग्रेजोंके अधीन रहनेके कारण हम मानसिक रूपसे इतने अस्वस्थ हो गये हैं कि हिंदू-धर्म, हिंदू-संस्कृति अथवा भारतीयतासे जुड़े पवित्र, सुन्दर और सार्थक नामोंको उच्चारण करने या लिखने-बोलनेमें भी लज्जाका अनुभव करते हैं। हिंदू-नाम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें ईश्वर, देवता या किसी शुभ-सात्त्विक पवित्र भावसे जुड़े रहते हैं। पाश्चात्त्य शिक्षा और संस्कृतिका यह दूषित प्रभाव पड़ा कि हम उन्हींकी तरह हिंदुओंके नामोंको भी बिगाड़ने लगे तथा आधुनिकताके प्रवाहमें ऐसे बहे कि उन्हें बतानेमें या उच्चारण करनेमें अपनी हेठी या अप्रतिष्ठा समझने लगे।

यदि आप अपने नामके पहले अंग्रेजी वर्णमालाका कोई भी अक्षर रखते हैं तो उससे नामके विषयमें कुछ भी बोध नहीं होता। केवल नामके अन्तमें आनेवाली जाति या धर्मका हलका-सा पता चलता है। 'कृष्णप्रसाद शर्मा'के स्थानपर 'के० पी० शर्मा' लिखनेसे कुछ महत्ता नहीं बढ़ जाती। के० पी०की जगह कृष्णप्रसादके कहने और उच्चारण आदिमें भगवान्का नाम होनेके कारण मनमें पवित्रताका बोध होता है। इसी प्रकार 'श्रीराम या शिव, ब्रह्मा, हनुमान्, सीता, सावित्री, लक्ष्मी, सरस्वती, चन्द्र, सूर्य, भीम, अर्जुन, गङ्गा, यमुना, त्रिवेणी, हरिद्वार, काशी आदि नामोंसे सात्त्विकताका बोध होता है।

हिंदू-धर्ममें नामकरणका अत्यन्त महत्त्व है। माँ-बाप बच्चेको जैसा बनाना चाहते हैं, उसका बोध नामसे प्रारम्भमें ही होने लगता है। नामके अनुसार ही बच्चेके व्यक्तित्व, चरित्र, विचारों और आदतोंका विकास होता है। नामके प्रारम्भिक शब्दोंका जीवनपर गम्भीर प्रभाव

पड़ता रहता है। अतः माता-पिताको विद्वान्द्वारा सार्थक, पवित्र, व्याकरण-सिद्ध, शुद्ध, उत्तम भावोंका विकास करनेवाला उज्ज्वल नाम ही चुनना चाहिये। यदि शब्दोंके अर्थ न होते, तब तो कुछ भी नाम धरें कोई अन्तर नहीं था, जैसा-तैसा, अच्छा-बुरा कैसा भी नाम रखा जा सकता था, पर शब्दोंके गहरे अर्थ और दूरके जुड़े हुए अभिप्राय, भाव, संकेत, विचार, घटनाएँ, ईश्वरके विभिन्न अवतार, पवित्र तीर्थ, उत्सव, पर्व आदि रहते हैं। किसीको 'दुष्ट, पापी, बेईमान, स्वार्थी, हिंसक, मूर्ख, क्रोधी' आदि कहनेपर अप्रसन्नता बढ़ आती है, 'सज्जन, महोदय, ईमानदार, बुद्धिमान्, कुशल, दक्ष, धर्मवीर कहनेपर प्रसन्नता होती है। प्रसिद्ध महापुरुषों, देवताओं, देवियों, भगवान्, तीर्थों आदिके नामोंमेंसे चुनकर कोई नाम रखा जा सकता है। इन सबसे चरित्रमें भी निर्मलता और उच्चता आती है।

ज्योतिषशास्त्रानुसार जो नाम रखे जाते हैं, वे भी उपयोगी होते हैं। कर्मकाण्डके ग्रन्थोंमें कहा गया है, **'प्रशस्यं नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं च।'** (मानवगृह्यसूत्र १ । १८ । २) अर्थात् नाम ऐसा हो जो यशोवर्धक या गौरव, उन्नति, यश-प्रतिष्ठाका सूचक हो अथवा देवता या नक्षत्रपर आश्रित हो। 'चरकसंहिता'के शरीरस्थानमें भी कहा गया है—**कुमारं प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति इत्युक्त्वा कुमारस्य पिता नक्षत्रदेवतायुक्तं नाम कारयेत्। द्वे नाम्नी कारयेत्—नाक्षत्रिकं नाम आभिप्रायिकं च।** (८ । ४९) अर्थात् बालकको पूर्व या उत्तरकी ओर सिर करके सुलाकर देवताओं और ब्राह्मणोंको प्रणाम करें। फिर बच्चेका पिता नक्षत्र-देवतायुक्त नाम रखे। दो नाम निश्चित करे—एक नक्षत्रसम्बन्धी और दूसरा अपनी पवित्र रुचिके अनुसार।

किसी भी देवी-देवता, विद्वान्, ऋषि, पवित्र तीर्थ या उत्सव, ऐतिहासिक महापुरुष आदिके नामको जोड़ देनेसे उस नामके साथ आत्मीयता, ममता और आकर्षण उत्पन्न हो जाते हैं। धर्मसे जोड़ देनेपर वह पवित्र चरित्र और उच्च प्रवृत्तियोंवाला सज्जन बनता है। राम, कृष्ण, महावीर, ओम्, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि पवित्र आत्माओंसे जोड़ देनेपर बालक पुण्य, सत्य, न्याय, विवेकका मार्ग ग्रहण करता है। हिंदू नाम भारतीय संस्कृतिकी पवित्र धरोहर हैं। बच्चोंके नामोंके साथ भगवान्का नाम जोड़ देनेसे प्राचीन उच्च आदर्श, नीति, सिद्धान्त और संस्कार नवीन होते रहते हैं। गणेश बुद्धिके देवता हैं। इस नामवाले व्यक्तिका प्रत्येक कार्य बुद्धिपूर्वक हो, यह गणेशका संदेश है। कल्याणकारी शिव काम-वासनाको जीतनेवालोंके प्रतीक हैं। ब्रह्मा अतीतका, विष्णु वर्तमानका और शिव भविष्यका स्मरण दिलाते हैं। ब्रह्माजीके चार मुँह ऊपर-नीचे आगे-पीछे चारों ओरसे चौकन्ना रहनेका बोध कराते हैं। विष्णुके चार हाथ—खेती, उद्योग, कला और साहित्यमें सफलता दर्शाते हैं अथवा चारों पुरुषार्थोंके साधनोंका उत्साह प्रदान करते हैं। कहा गया है—**'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः।'** सरस्वती, व्यास और गणेश साहित्यकारोंके आदर्श हैं, ब्रह्मतेज और क्षात्रबलके उपासक वसिष्ठ और विश्वामित्र हैं। लोकसेवाके प्रवर्तक कश्यप रहे हैं। गणतन्त्रके संस्थापक भगवान् श्रीकृष्ण रहे हैं। इस प्रकार किसी भी गौरवशाली पवित्र नामको रखकर अपना और बच्चेका तन, मन, वातावरण, भविष्य और रहन-सहन परिष्कृत किया जा सकता है। हिंदू-नामोंके उच्चारणसे पुण्य प्राप्त होता है; क्योंकि बार-बार पुकारनेसे भगवान्का नाम जिह्वापर आता रहता है। धर्मसे सदा सम्बन्ध अटूट रहता है।

गीता-माधुर्य—१३

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[तेरहवाँ अध्याय]

जो आपकी (सगुण-साकार रूपकी) उपासना करते हैं, वे तो आपको अत्यन्त प्यारे लगते हैं, अब यह बताइये कि जो आपके निर्गुण-निराकार रूपकी उपासना करते हैं, वे कैसे होते हैं ?

भैया ! वे विवेकी होते हैं।

विवेक किसका होता है भगवन् ?

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! 'यह'-रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं और जो इस क्षेत्रको जानता है, उसे ज्ञानीलोग 'क्षेत्रज्ञ' (शरीरी) कहते हैं ॥ १ ॥

उस क्षेत्रज्ञका स्वरूप क्या है ?

हे भारत ! सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों)में क्षेत्रज्ञ (शरीरी) रूपसे मैं ही हूँ—ऐसा तुम जानो*।

वह जानना क्या है भगवन् ?

क्षेत्र अलग है और क्षेत्रज्ञ अलग है—इसे ठीक-ठीक जानना ही मेरे मतमें ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रकी संसारके साथ एकता है और क्षेत्रज्ञकी मेरे साथ एकता है—इसका ठीक-ठीक अनुभव करना ही मेरे मतमें ज्ञान है ॥ २ ॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानके लिये कौन-सी बातें जाननी आवश्यक होती हैं ?

छः बातें जाननी आवश्यक होती हैं—क्षेत्रके विषयमें चार और क्षेत्रज्ञके विषयमें दो। वह 'क्षेत्र' जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है और जिससे पैदा हुआ है; तथा वह 'क्षेत्रज्ञ' जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपसे तुम मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

तो इसका विचार कहाँ मिलेगा भगवन् ?

ऋषियोंने, वेदोंकी ऋचाओंने और युक्तियुक्त तथा निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्रके पदोंने इसे विस्तारसे कहा है ॥ ४ ॥

वह क्षेत्र क्या है ?

मूल प्रकृति, समष्टि बुद्धि (महत्तत्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक मन और इन्द्रियोंके पाँच विषय—यह चौबीस तत्त्वोंवाला क्षेत्र है† ॥ ५ ॥

वह क्षेत्र किन विकारोंवाला है ?

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, प्राणशक्ति और धारणशक्ति—इन सात विकारोंसहित यह क्षेत्र मैंने संक्षेपसे कहा है ॥ ६ ॥

विकारोंसहित क्षेत्र 'यह'-रूपसे (अपनेसे अलग) कैसे दीखे भगवन् ?

१—अपनेमें श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव।

२—अपनेमें दिखावटीपनका न होना।

---

* यहाँ 'सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे जानो'—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि यह शरीर तो प्रकृतिका अंश है, इसलिये तुम इससे सर्वथा विमुख हो जाओ; और तुम मेरे अंश हो, इसलिये तुम सर्वथा मेरे सम्मुख हो जाओ।

दूसरा तात्पर्य यह है कि तुमने जहाँ क्षेत्र (शरीर)के साथ अपनी एकता स्वीकार कर रखी है, वहाँ मेरे साथ अपनी एकता स्वीकार कर लो; क्योंकि वास्तवमें तुम्हारी शरीरके साथ एकता है नहीं और मेरे साथ तुम्हारी स्वतःसिद्ध एकता है। इसे तुम जान लो।

† मूल प्रकृति सबकी माँ है। उस प्रकृतिसे बुद्धिरूपी पुत्री पैदा हुई। बुद्धिसे अहंकाररूपी पुत्र पैदा हुआ। अहंकारकी संतान हुई—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत। पाँच महाभूतोंकी संतान हुई—दस इन्द्रियाँ, एक मन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय। इन्द्रियाँ, मन और पाँच विषयोंसे कोई संतान पैदा नहीं हुई।

३—शरीर, मन और वाणीसे किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न देना।

४—क्षमाका भाव।

५—शरीर, मन और वाणीकी सरलता।

६—ज्ञानप्राप्तिके लिये गुरुके पास जाकर उनकी सेवा आदि करना।

७—शरीर और अन्तःकरणकी शुद्धि।

८—अपने लक्ष्यसे विचलित न होना।

९—मनको वशमें करना।

१०—इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य होना।

११—अहंकाररहित होना।

१२—वैराग्यके लिये जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोगोंमें दुःखरूप दोषोंके मूल कारणको देखना।

१३—आसक्तिरहित होना।

१४—स्त्री, पुत्र, घर आदिमें तल्लीन न होना।

१५—अनुकूलता-प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें चित्तका सदा सम रहना।

१६—मुझमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्तिका होना।

१७—एकान्त स्थानमें रहनेका स्वभाव होना।

१८—जन-समुदायमें प्रीतिका न होना।

१९—परमात्माकी सत्ताका नित्य-निरन्तर मनन करना।

२०—सब जगह परमात्माको ही देखना।

—इन बीस साधनोंसे शरीर 'यह'-रूपसे दीखने लग जायगा। शरीरको 'यह'-रूपसे (अपनेसे अलग) देखना ज्ञान है और इसके विपरीत शरीरको अपना स्वरूप देखना अज्ञान है॥ ७—११॥

इस ज्ञानसे प्राप्त होनेवाला तत्त्व क्या है ?

ज्ञेय-तत्त्व (परमात्मा) है। मैं उस ज्ञेय-तत्त्वका वर्णन करूँगा, जिसे जाननेसे अमरताकी प्राप्ति हो जाती है।

उस ज्ञेय-तत्त्वका स्वरूप क्या है ?

वह आदि-अन्तसे रहित और परम ब्रह्म है। वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है* ॥ १२॥

तो भी वह कैसा है भगवन् ?

वह सब जगह ही हाथों और पैरोंवाला, सब जगह ही नेत्रों, सिरों और मुखोंवाला तथा सब जगह ही कानोंवाला है। वह सभीको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला है। वह आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाला है। वह गुणोंसे रहित है और गुणोंका भोक्ता है॥ १३-१४॥

एक ही तत्त्वमें दो विरोधी लक्षण कैसे हुए ?

अनेक विरोधी भाव उस एकमें ही समा जाते हैं और विरोध उसमें रहता नहीं; क्योंकि स्थावर-जंगम आदि सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर भी वही है और भीतर भी वही है तथा चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वही है अर्थात् उसके सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। दूर-से-दूर भी वही है और निकट-से-निकट भी वही

* उस तत्त्वको सत्-असत् नहीं कह सकते; कारण कि असत्‌के भाव (सत्ता) के बिना 'सत्' शब्दका प्रयोग नहीं होता, जबकि असत्‌का अत्यन्त अभाव है। अतः उस परमात्मतत्त्वको 'सत्' भी नहीं कह सकते। उस परमात्म-तत्त्वका कभी अभाव होता ही नहीं, इसलिये उसको 'असत्' भी नहीं कह सकते। तात्पर्य यह है कि उस तत्त्वमें सत्-असत् शब्दोंकी अर्थात् वाणीकी प्रवृत्ति होती ही नहीं। ऐसा वह निरपेक्ष परमात्मतत्त्व है।

है* । वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है अर्थात् इन्द्रियों और अन्तःकरणका विषय नहीं है । इसलिये उसमें विरोध नहीं है ॥ १५ ॥

उसमें विरोध न होनेका और कारण क्या है भगवन् ?

वह परमात्मा विभागरहित होता हुआ भी अनेक विभागवाले प्राणियों (वस्तुओं)में विभक्तकी तरह स्थित है । वह परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाला, उनका भरण-पोषण करनेवाला और संहार करनेवाला है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-रूप भी वही है । उस परमात्माको जानना चाहिये ॥ १६ ॥

उसे कैसे जानें ?

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिके द्वारा जितने ज्ञान होते हैं, वे सभी उसीसे प्रकाशित होते हैं । इसलिये वह सम्पूर्ण ज्योतियों (ज्ञानों)का भी ज्योति (प्रकाशक) है । उसमें अज्ञानका अत्यन्त अभाव है । वह ज्ञान-स्वरूप है । जाननेयोग्य भी वही है । वह ज्ञान (साधन-समुदाय)से प्राप्त करनेयोग्य है । वह सबके हृदयमें विराजमान है ॥ १७ ॥

और किसे-किसे जानना है तथा जाननेका क्या माहात्म्य है भगवन् ?

क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानना है, जिनका वर्णन मैंने संक्षेपसे कर दिया है । इन तीनोंको ठीक-ठीक जाननेवाला मेरा भक्त मेरे भावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसे मेरे साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है ॥ १८ ॥

भक्त तो क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनोंको जानकर आपसे अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, पर जो साधक केवल ज्ञानमार्गपर ही चलना चाहता है, उसके लिये क्या जानना आवश्यक है ?

उसके लिये प्रकृति (क्षेत्र) और पुरुष (क्षेत्रज्ञ) —इन दोनोंको अलग-अलग जानना आवश्यक है । प्रकृति और पुरुष—ये दोनों ही अनादि हैं ।

जब ये दोनों अनादि हैं, तो फिर ये गुण और विकार किससे पैदा हुए ?

गुण और विकार प्रकृतिसे पैदा होते हैं । इसके सिवाय कार्य, करण और कर्तापनमें भी प्रकृति ही हेतु होती है ।

पुरुष किसमें हेतु होता है महाराज ?

पुरुष तो सुख-दुःखके भोक्तापनमें हेतु होता है ॥ १९-२० ॥

पुरुष भोक्तापनमें हेतु कब बनता है ?

प्रकृतिमें स्थित होनेसे, उसके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही पुरुष गुणोंका भोक्ता बनता है और गुणोंका सङ्ग होनेसे ही वह ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २१ ॥

उस पुरुषका स्वरूप क्या है भगवन् ?

वह पुरुष प्रकृतिके कार्य शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेसे 'उपद्रष्टा', उसके साथ मिलकर सम्मति देनेसे 'अनुमन्ता', अपनेको उसका भरण-पोषण करनेवाला माननेसे 'भर्ता', उसके सङ्गसे सुख-दुःख भोगनेसे 'भोक्ता' और अपनेको उसका मालिक माननेसे 'महेश्वर' बन जाता है, परंतु स्वरूपसे वह पुरुष 'परमात्मा' कहा जाता है । वह इस शरीरमें रहता हुआ भी वास्तवमें शरीरके सम्बन्धसे रहित ही है ॥ २२ ॥

---

* दूर और निकट तीन प्रकारसे होता है—देशकृत, कालकृत और वस्तुकृत । देशको लेकर—दूर-से-दूर देशमें भी वही है और निकट-से-निकट देशमें भी वही है । कालको लेकर—पहले-से-पहले भी वही था, पीछे-से-पीछे भी वही रहेगा और अब भी वही है । वस्तुको लेकर—सम्पूर्ण वस्तुओंके पहले भी वही है, वस्तुओंके अन्तमें भी वही है और वस्तुओंके रूपमें भी वही है । इसलिये वह दूर-से-दूर और निकट-से-निकट है ।

यह श्लोक इस प्रकरणका सार है । इस श्लोकके विषयको ठीक तरहसे जान लेनेपर, इसके भावका मनन करनेपर मनुष्य चाहे व्यवहारमें रहे, चाहे एकान्तमें रहे, इस भावकी जागृति उसमें स्वतः (बिना परिश्रम, उद्योग किये ही) रहेगी ।

इस तरह प्रकृति और पुरुषके स्वरूपको जाननेसे क्या होता है भगवन् ?

इस तरह गुणोंके सहित प्रकृतिको और पुरुषको जो मनुष्य ठीक-ठीक जान लेता है, वह सब तरहका शास्त्रविहित बर्ताव (कर्तव्य-कर्म) करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

जन्म-मरणसे मुक्त होनेका और भी कोई उपाय है क्या ?

हाँ, है । कई मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा, कई सांख्य-योगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा अपने-आपसे अपने-आपमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करके मुक्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

और भी कोई सरल उपाय है क्या ?

हाँ, है । जो मनुष्य ध्यानयोग, सांख्ययोग आदि साधनोंको नहीं जानते, केवल जीवन्मुक्त महापुरुषोंकी आज्ञाके परायण हो जाते हैं, वे भी मृत्युको तर जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥

वे मृत्युको कैसे तर जाते हैं भगवन् ?

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके माने हुए संयोगसे ही पैदा होते हैं—ऐसा तुम समझो । इसलिये क्षेत्रके साथ अपना संयोग न माननेसे वे तर जाते हैं, जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

इस संयोगसे छूटनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

दो बातें करनी आवश्यक होती हैं—स्वतःसिद्ध परमात्माके सम्बन्धको पहचानना और प्रकृति (शरीर)-से सम्बन्ध तोड़ना । विषम संसारमें जो समरूपसे स्थित है और नष्ट होनेवालोंमें जो अविनाशीरूपसे स्थित है तथा जो परम ईश्वर है—ऐसे अपने परम स्वरूपको जो देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है अर्थात् उसे वास्तविक स्वरूपका अनुभव हो जाता है । सब जगह समानरूपसे परिपूर्ण परमात्माके साथ एकता होनेसे शरीरके साथ तादात्म्यका अभाव हो जाता है । फिर वह अपने द्वारा अपनी हत्या नहीं करता अर्थात् शरीरके मरनेसे अपना मरना नहीं मानता । इसलिये वह परमगति (परमात्मा)को प्राप्त हो जाता है ॥ २७-२८ ॥

प्रकृति (शरीर)से सम्बन्ध कैसे तोड़ें ?

सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं—ऐसा ठीक बोध होनेसे वह अपने कर्तृत्वके अभावका अनुभव करता है तथा जिस समय वह सम्पूर्ण प्राणियोंके अलग-अलग भावों (शरीरों)को एक प्रकृतिमें ही स्थित और प्रकृतिसे ही उत्पन्न देखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । फिर उसका प्रकृतिके साथ सम्बन्ध नहीं रहता ॥ २९-३० ॥

ऐसा क्यों हो जाता है ?

हे कुन्तीनन्दन ! यह पुरुष स्वयं अनादि और गुणरहित होनेसे स्वयं अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है । यह शरीरमें रहता हुआ दीखनेपर भी वास्तवमें न करता है और न लिप्त होता है अर्थात् यह कर्ता और भोक्ता नहीं है ॥ ३१ ॥

यह भोक्ता कैसे नहीं है ?

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें कभी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही यह पुरुष सब जगह परिपूर्ण होते हुए भी किसी भी शरीरमें किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥

यह पुरुष कर्ता कैसे नहीं है भगवन् ?

हे भारत ! जैसे एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, ऐसे ही यह क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है; अतः यह क्षेत्रज्ञ प्रकाशकमात्र है । इस तरह जो ज्ञानरूपी नेत्रसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको तथा कार्य और कारण (प्रकृति)सहित सम्पूर्ण संसारसे अपनेको अलग अनुभव कर लेते हैं, वे परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३-३४ ॥

कहानी

'मैं हूँ आपकी शारदा !'

'पिताजी ! सब गङ्गा-स्नान करने जा रहे हैं। मैं भी चली जाऊँ ?'

'परंतु बेटी ! तू इतना अधिक चल सकेगी ?'

'क्यों पिताजी ! पिछली बार तो हम सब गये थे न ?'

'परंतु तुझे स्मरण है कि मार्गमें तुझे तीव्र ज्वर आया था। यह तो संयोगकी बात थी कि मैं तुम्हारे साथ ही था, नहीं तो उस बीहड़ जंगलमें तेरा क्या होता ! नहीं बेटी ! तुझसे चला नहीं जायगा और मैं इस समय जानेकी स्थितिमें नहीं हूँ। ऐसी दशामें तुझे अकेली कैसे जाने दूँ ?'

'मैं अकेली कहाँ हूँ ? इतनी सब स्त्रियोंका समूह जा रहा है और उन सबसे तो आप परिचित ही हैं। तो पिताजी मैं जाऊँ न ?'

पिता पुत्रीकी कलकत्ते जानेकी उत्कट इच्छाको देख रहे थे। अब उनकी समझमें आया कि गङ्गा-स्नानकी अपेक्षा दक्षिणेश्वरके काली-मन्दिरमें साधनरत अपने पतिदेवके दर्शन करनेकी पुत्रीमें विशेष उत्कण्ठा थी। इसलिये सदैव पुत्रीकी इच्छाको संतुष्ट करनेवाले पिताने इस बार भी पुत्रीकी इच्छाका अनादर नहीं किया। साथकी चार-पाँच स्त्रियोंको विशेष सँभाल रखनेको कहकर उन्होंने पुत्रीको कलकत्ते जानेकी आज्ञा दे दी।

उस समय जयरामवाटीसे कलकत्ता पैदल चलकर जाना सरल नहीं था। उस समय नहीं था रेलवेका आरामदायी यात्रा-साधन और नहीं थी बसकी सुविधापूर्ण यात्रा तथा मार्ग भी स्वच्छ नहीं था। जंगलोंको पार करते-करते, नदी-नाले लाँघते-लाँघते, चोर-डाकुओं एवं जंगली जानवरोंसे डरते-डरते यात्रियोंको पैदल ही मार्ग तय करना पड़ता था। इतनेपर भी यात्री साहस रखते हुए गङ्गा-स्नान करने बराबर जाते रहते। इस बार गाँवकी बहुत अधिक स्त्रियोंको तैयार हुई जानकर शारदामणिको भी उनके साथ जाकर पतिके मुखारविन्दके दर्शन करनेकी इच्छा हो गयी थी।

शुभ मुहूर्त देखकर संघने प्रयाण किया। जयरामवाटीसे कामारपुकुर होकर वहाँसे आठ मील दूर आरामबागमें रात्रि-विश्राम करनेका सबका निश्चय था। यात्रा प्रारम्भ हुई, अतः सबकी चालमें उत्साह था। हृदयमें श्रद्धाका बल था। भक्तिके गीत गाते-गाते सब तेजीसे चले जा रहे थे। इतनेमें तो आरामबाग आ गया, परंतु अभी कोई थका नहीं था। सब कहने लगे—'अभी तो सूर्यनारायण अस्त होनेकी स्थितिमें पहुँचे ही नहीं हैं, अभी तो इतना अधिक प्रकाश है। रात्रि होनेमें तो अभी लगभग तीन घंटेका विलम्ब है। चलते चलो, यहाँ रात्रि-विश्राम नहीं करना है। शीघ्र चलते रहो, सूर्यास्ततक तो तेलोमेला और कैकलेके मैदानोंको पार कर लेंगे। फिर कोई भय नहीं रहेगा तो निश्चिन्त सो जायँगे।'

पूरा संघ भजन-कीर्तन करता तीव्र गतिसे चल पड़ा। डाकुओंके भयकी कल्पनासे उनकी गतिमें तीव्रता थी, परंतु यह क्या ? स्त्रियोंका एक समूह इतनी धीमी गतिसे क्यों चल रहा था ? पीछे पलटकर किसीने देखा तो चार-पाँच स्त्रियाँ धीरे-धीरे आ रही थीं। 'अरे ओ विश्वासकी माँ ! तुमलोग जल्दी-जल्दी चलो, इस प्रकार चलनेपर तो यहीं बीच मार्गमें रात्रि हो जायगी।'

'हाँ, मांसी माँ, दीदी मणि, माँ ठकुरानी ! आप सब शीघ्रतासे चलकर संघके साथ हो जाओ। मुझसे

अब बिल्कुल नहीं चला जा रहा है। मैं तो बहुत अधिक थक गयी हूँ। मेरे पग अब आगे बढ़ते नहीं हैं। आप सब आगे जाओ।'

'परंतु तू साथ क्यों आयी थी ? तुझे छोड़कर चली जायँ तो तेरे पिताको जाकर क्या उत्तर दूँगी ?'

'माँ ! आप तो जानती हैं कि मुझे अपने ठाकुरके दर्शन करने हैं, इसीलिये इतना कष्ट उठा रही हूँ।'

'यह बात तूने पहले ही क्यों नहीं बतायी। हमलोग आरामबागमें ही रुकी होतीं, यही हमारे लिये अच्छा पड़ता।'

'मेरे मनमें यह था कि धीरे-धीरे आपके साथ चली चलूँगी।'

'परंतु इस प्रकार चलनेसे तो जंगलोंमें ही रात्रि हो जायगी।'

अरी माँ ! हमारी तो स्त्रियोंकी जाति। अकेले घोर जंगलको कैसे पार कर सकेंगी। बागदी लुटेरे चाहे जहाँ मिल जाते हैं और यात्रियोंकी कितनी-कितनी दुर्दशा करते हैं, यह तो तूने सुना ही होगा।'

'अरे तुमलोग जल्दी चलो, थोड़ा झड़पसे पग उठाओ। हम तुम्हारी प्रतीक्षा कहाँतक करेंगी।' ऐसा कहकर आगेवाली मण्डली तो लगभग दौड़ने ही लगी। यह देखकर अन्य स्त्रियोंमें भी जोश आया और उन्होंने भी गति बढ़ायी, परंतु शारदामणिकी गति किसी भी उपायसे नहीं बढ़ी। उसके पैर सूज गये थे। एक-एक डग भरते उसे अपार वेदना हो रही थी। वह बिल्कुल चल नहीं पा रही थी और साथ ही स्त्रियाँ उसे जल्दी चलनेका आग्रह कर रही थीं। अन्तमें शारदामणिने ही उनसे कहा—

'माँ ! आप सब आगे जाओ। व्यर्थ ही मेरे लिये आप सबको भी कष्टमें पड़ना होगा। मैं तो अकेली-अकेली धीरे-धीरे चली आऊँगी।'

'अरी माँ ! तू अकेली-अकेली कैसे चलेगी ? मार्गमें लुटेरे मिलेंगे तो भयसे घबराकर तू मर नहीं जायगी ?'

'नहीं माँ ! मुझे कुछ होनेवाला नहीं है। इस समय मैं बहुत थक गयी हूँ। अब मुझसे एक कदम भी चला नहीं जायगा। आप सब जल्दी-जल्दी चलकर मण्डलीका साथ पकड़ लें।' शारदामणिने आग्रह-भरे स्वरमें प्रार्थना की।

'ठीक, तू कहती है तो हम जल्दी-जल्दी चलकर दिन रहते जंगल पार कर लेंगी। तू धीरे-धीरे चलकर फिर हमारे साथ हो जाना।' ऐसा कहकर और शारदामणिको अकेली छोड़कर वे सब स्त्रियाँ शीघ्रतासे चलती हुई झाड़ियोंमें कहीं अदृश्य हो गयीं। इन झाड़ियोंमें अकेली रही शारदामणि। सूर्य तेजीसे अस्ताचल जा रहे थे और अभी जिसने सोलह वर्ष भी पूरे नहीं किये थे, वह शारदामणि धीरे-धीरे चली जा रही थी।

तभी घोर अन्धकारको चीरती हुई एक काली भयानक विकराल आकृति शारदामणिकी ओर आती दिखायी दी। इस आकृतिके समीप आनेपर शारदामणिने देखा कि वह एक ऊँची, काली विकराल भयानक मानव आकृति थी। उसके हाथमें कड़े पड़े थे और कंधेपर मोटी लाठी रखी थी। अंगारे-जैसी जलती आँखें चमक रहीं थीं। अरे ! यह तो अवश्य बागदी लुटेरा है। शारदामणिको पहचानते देर नहीं लगी। जिसके भयसे भले-भले पसीना छोड़ बैठते थे, जिसकी यातनाके भयसे सब शीघ्रतासे चले गये थे, वही कालदूत-जैसा साक्षात् लुटेरा आ पहुँचा था। उसे देखकर शारदामणि रुक गयी। वह धीरे-धीरे चल रही थी, अब स्थिर हो गयी। उसे वहाँ रुकी देखकर लुटेरेने डाँटकर कहा—'अरे, यहाँ कौन खड़ा है ? कहाँ जाना है तुझे ?' जिसकी एक डाँट सुनकर भले-भले बेहोश हो जाते थे

और वहाँ तो यह स्त्रीकी जाति! इसकी तो हिम्मत ही कितनी?

परंतु वहाँ तो शान्त, निश्चल, मधुर स्वर सुनायी दिया—'बाबा! मुझे पूर्वकी ओर जाना है।'

इस स्वरमें न भय था, न क्रन्दन, परंतु वहाँ था मधुर प्रेमका स्पन्दन और 'बाबा' का ऐसा प्रेमपूर्ण सम्बोधन कि लुटेरेने अपने जीवनमें प्रथम बार ही सुना था। अन्तःकरणसे उठे इस सम्बोधनने लुटेरेके अन्तः-करणमें मानो एक विचित्र झनझनाहट उत्पन्न कर दी हो। वह विवश-भावसे समीप आ गया। उसने शारदा-मणिको अच्छी तरह देखा और एक क्षण पूर्वका उसका कठोर स्वर एकदम कोमल बन गया। इसकी क्रूरता, जंगली स्वभाव और वैर-भावना न जाने कहाँ अदृश्य हो गयी? और वह बोल उठा—'माँ! डरो मत, मेरी स्त्री पीछे-पीछे आ रही है।'

शारदामणिने देखा कि सचमुच दूरसे एक स्त्री आ रही थी। इसलिये उसका विश्वास बढ़ा। इसने हाथ जोड़कर उस व्यक्तिसे कहा—'बाबा! अब मुझे भय किसका? अच्छा हुआ कि आप और माँ इस समय यहाँ पहुँच गये। मैं बहुत थक गयी थी, इसलिये मेरे साथी मुझे छोड़कर आगे चले गये। मुझे लगता है कि मैं मार्ग भूल गयी हूँ, परंतु अब मुझे चिन्ता नहीं है। आपके जमाई दक्षिणेश्वरके काली-मन्दिरमें पुजारी हैं। आप मुझे उनके पास पहुँचा देंगे? वे भी आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे।'

लुटेरेको लगा कि वह यह मधुर स्वर सुनता ही रहे, परंतु तबतक तो उसकी स्त्री वहाँ आ पहुँची। अँधेरी रात्रिमें यह अकेली स्त्री कौन होगी और उसके पतिसे क्या कह रही होगी? उसके मनमें ऐसे विचार उठे, उससे पूर्व ही शारदामणि उस स्त्रीके समीप पहुँच गयी और अत्यन्त विश्वास एवं अपनेपनसे उसका हाथ पकड़ लिया। उस अद्भुत स्पर्शमें छिपे प्रेम और विश्वासके भावको वह स्त्री अनुभव करे उससे पूर्व तो बालक-जैसे सरल, कोमल और मधुर शब्द उसके कानोंमें पड़े—'माँ! मैं तो आपकी शारदा पुत्री हूँ। मेरे साथी मुझे छोड़कर चले गये। रात आ गयी। अँधेरा हो गया। मैं रास्ता भूलनेसे व्याकुल हो गयी थी कि अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? ऐसे अन्धकारमें रात्रि कहाँ व्यतीत करूँगी? तभी माँ! तुम और बापूजी आ गये। कितना अच्छा हुआ। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं रही है। नहीं तो क्या पता मेरा क्या होता।'

शारदामणिके इन शब्दोंने लुटेरा-दम्पतिके हृदयके आस-पास व्याप्त क्रूरतापूर्ण कठोर परदेको भेद डाला और उनके अन्तर्हृदयमें अबतक अगोचर रहे प्रेम-निर्झरको प्रवाहित कर दिया। उन दोनोंने बहुतोंको लूटा था, बहुत-सी स्त्रियोंकी अनुनय-विनय इन्होंने सुनी थी, कितनी ही स्त्रियोंका क्रन्दन इन्होंने सुना था, परंतु अबतक इनपर किसीका प्रभाव नहीं पड़ा था। आजतक किसी स्त्रीने 'माँ', 'बाबा' कहकर अपना दायित्व इतने विश्वासके साथ इन्हें सौंपा नहीं था। दोनोंको लगा कि सचमुच ही यह पूर्वजन्मकी हमारी पुत्री ही होगी, नहीं तो इतना अधिक प्रेमभाव उनका एक अपरिचित कन्यापर क्यों उमड़ता?

स्त्रीने कहा—'अच्छा हुआ, आज हमलोग पहले चल दिये, नहीं तो मेरी शारदाका क्या होता?'

'माँ! मुझे दक्षिणेश्वर पहुँचा दोगी न?'

अवश्य, अब तुझे कोई अकेली थोड़े जाने देंगे? हम दोनों तुझे पहुँचाने चलेंगे, परंतु आज इस समय जाया नहीं जा सकेगा। आज तू थक गयी है, तेरे पैर

कैसे सूज गये हैं ! अन्धकार भी कितना घोर हो गया है ।' इतना कहकर वह स्त्री अत्यन्त स्नेहसे शारदामणिके सिर और पीठपर हाथ फेरने लगी । उसने अपने पतिसे कहा—'आप शीघ्र चलिये । हम धीरे-धीरे आती हैं । समीपके गाँवमें रात्रिमें रुकेंगी । प्रातः मेरी शारदाकी थकान उतर जायगी, तब हम तारकेश्वर चलेंगी ।'

धीरे-धीरे चन्द्रमाके प्रकाशमें चलते-चलते माँ और पुत्री दोनों समीपके गाँवमें आ गयीं। वहाँ माता बोली—'अरे ! मेरी बेटी भूखी है, आप कुछ खानेको तो ले आइये ।'

पुरुषने उत्साहसे स्वीकृति तो कर दी, परंतु इस समय घनघोर काली रात्रिमें एक छोटे गाँवमें खानेको कहाँसे मिले। जैसे-तैसे करके वह एक दूकानसे थोड़ा चना-गुड़ खरीद लाया । माँने अपनी गठरी खोलकर उसमेंसे एक कपड़ा निकालकर पृथ्वीपर बिछाकर उसपर शारदामणिको बैठाकर कहा—'बेटी ! कल तुझे मिठाई खिलाऊँगी, आज तो बस यही है ।' अन्तःकरणके सच्चे प्रेमसे भीगी इस खाद्य सामग्रीमें भी शारदामणिको अद्भुत स्वाद आया । उसने माँके हाथसे उन्हें बड़े प्रेमसे खाया ।

'अब तू बिल्कुल चिन्ता मत कर ।' कहकर उस स्त्रीने अपने समीपके कपड़ोंका बिछौना बिछा दिया और उसके ऊपर शारदामणिको सुलाया । स्वयं भी उसके समीप थोड़ी दूरीपर सो गयी । बहुत अधिक थकान लगी थी और अब तो माता-पिताकी प्रेमपूर्ण छत्रछाया भी थी, इसलिये शारदामणि थोड़ी ही देरमें निश्चिन्त होकर प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी । कैसा था अटल विश्वास ! और इस विश्वासका कैसा सुन्दर सुखद परिणाम ! जिसे दूरसे ही देखकर भले-भले थरथराने लगते थे और कितनोंको साक्षात् यमदूत-सा दिखायी देनेवाला यह पुरुष हाथमें लाठी लिये पुत्री शारदाकी रक्षाके लिये रात्रिभर पहरा देता खड़ा रहा ।

प्रातःकाल हुआ । शारदामणिकी निद्रा टूटी । गाढ़ निद्राके परिणामस्वरूप उसका शरीर हलका फूल-जैसा हो गया था । थकान उतर गयी थी और अब वह चलने योग्य थी । उसने कहा—'बाबा ! मुझे मार्ग बताइये, मैं चली जाऊँगी ।'

'क्या कहा ? अपनी फूल-जैसी बेटीको मैं अकेली थोड़े ही जाने दूँगी ? तू अकेली जायगी तो हमें कितनी चिन्ता होगी । चलिये, हम अपनी शारदाको तारकेश्वर-तक तो पहुँचा दें ।' माँने कहा ।

'हाँ, इसके साथियोंके हाथों सौंपकर हम निश्चिन्त हो जायँगे ।'

इस प्रकार माता-पिता और पुत्री आनन्द करते-करते तारकेश्वरका मार्ग तय करने लगे । मार्गमें चनेके लहलहाते खेत पड़े और माँ खेतोंमेंसे चनोंके पेड़ उखाड़-उखाड़कर शारदामणिकी गोदमें डालती थी । मार्ग चलते-चलते माँ चनेके हरे-हरे दाने निकाल-निकालकर शारदाको देती और कहती, देख तो शारदा ! ये ताजे चने कैसे मीठे लगते हैं ! थोड़ा खा तो सही बेटी ! चनोंकी अपेक्षा देनेवाली माँके हृदयमें जो मिठास भरी थी, वह शारदाके हृदयको आनन्दसे भर रही थी। वह इन बागदी माता-पिताकी छोटी-सी लाड़ली बेटी ही बन गयी और इस प्रकार माँके हाथसे चने लेकर प्रेमपूर्वक खाने लगी । इस प्रकार प्रेमके आदान-प्रदानमें मार्ग कब तय हो गया, इसका तीनोंमेंसे किसीको पता ही न लगा और तारकेश्वर आ गया ।

'आप देखते हैं न, अपनी बेटीको हमने अभीतक मिठाई नहीं खिलायी है । आप पहले स्नान करके

तारकेश्वरकी पूजा कर लें, फिर बाजारमें जाकर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ मेरी शारदाके लिये ले आइये। आज तो अपनी बेटीको अपने हाथोंसे खिलाऊँगी।'

माँके हृदयसे पल-पलमें छलकते प्रेमका शारदामणि अनुभव कर रही थी। कौन कह सकता था कि ये निष्ठुर लुटेरे हैं? इनसे भयभीत होना कैसा? प्रेम और आनन्दसे भरे इनके हृदयोंसे तो अपार वात्सल्य छलक रहा था। लोगोंद्वारा सुनी हुई बातोंकी अपेक्षा शारदामणिका अनुभव तो कुछ और ही था। यहाँ धिक्कार, वैर और ईर्ष्याके बदले यह तो प्रेमका ही अनुभव कर रही थी। लेनेके बदले सर्वस्व देनेकी भावना ही मूर्तिमती बनी थी। अपने बालकके लिये सभी कुछ करने और देनेका अप्रतिम निर्मल स्नेह प्रतिपल छलक रहा था। मनुष्यका बाहरी दिखावा, बर्ताव और कार्य भले चाहे जैसे हों, परंतु मनुष्यका आन्तरिक कलेवर तो प्रेम, करुणा, औदार्य और माधुर्यसे ही भरा होता है, ऐसा अनुभव शारदामणिको हुआ और उस दिन उसके लिये ये लुटेरे-दम्पति सच्चे अर्थमें माता-पिता बन गये।

तारकेश्वर भगवान्‌की पूजा करके पिता पुत्रीके लिये मिठाई खरीदने गये। इतनेमें तो शारदामणिके साथी भी वहाँ पहूँचे। शारदामणिको देखकर उन्हें संतोष हुआ। अकेली शारदा इन भयानक जंगलोंको कैसे पार कर सकेगी, यह चिन्ता अब निर्मूल हो गयी; परंतु उसके समीप बैठी बागदी स्त्रीको देखकर उन्हें कुछ विचित्र-सा लगा। यह देखकर शारदाने कहा—'दीदीमणि! माँ ठकुरानी! देखो तो सही, यह मेरी माँ है, बाबा मिठाई लेने गये हैं, अभी आयेंगे। इन माँ-बाबा—दोनोंने मार्गमें मेरी बहुत सँभाल की है। यदि ये रात्रिमें न मिले होते तो पता नहीं मेरा क्या होता।'

सब लोग दोपहरको एक साथ भोजन करने बैठे। बागदी पिताद्वारा लायी हुई मिठाई सभी यात्रियोंने प्रेमसे खायी। उस समय वहाँ गङ्गा-स्नान करने जा रहे यात्रीगण न थे और न थे बागदी जातिके लुटेरे। मानो वे सब एक ही माँकी संतान हों, इस प्रकार प्रेमके नाते सब एक परिवार बन गये थे। माता-पिताने अपनी लाडली बेटीको खूब आग्रह करके जिमाया। अब इस प्यारी पुत्रीको विदा करना था। एक रात्रिमें ही युग-युगोंका स्नेह-बन्धन जाग उठा था। जन्म-जन्मान्तरोंकी प्रीति प्रकट हो गयी थी।

'अरे रे! शारदा बेटी! तू हमें ऐसे ही छोड़कर चली जायगी?' माता-पिताको पुत्रीसे बिछुड़नेपर महान् दुःख हो रहा था। उनके नेत्रोंसे अश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। शारदामणि भी उनके अद्भुत स्नेहको देखकर गद्‌गद हो रही थी।

'माँ-बाबा! अब आप लौट जाइये, आपको विलम्ब होगा, अपने साथियोंके साथ अब मैं सकुशल चली जाऊँगी।'

माता-पिता शारदामणिके साथ जानेकी स्थितिमें नहीं थे। उन्हें पीछे लौटकर आना ही था, तब भी यह खिंचाव कुछ ऐसा था कि उनका पीछे लौटनेका मन नहीं होता था। अरे, अभी थोड़ी दूर और चलते हैं। फिर बेटीका मुँह देखनेको कब मिलेगा? परंतु वियोग तो होना ही था। दोनोंके पैर छूकर हाथ जोड़कर शारदामणिने कहा—'आप दक्षिणेश्वर अवश्य आइये। आपके जामाता अवश्य आपका सत्कार करेंगे।' फिर कठोर हृदय करके माता-पिताने पुत्रीको विदा किया। जबतक शारदामणि दिखायी देती रही तबतक वे दोनों उसे देखते ही रहे और शारदामणि भी पीछे मुड़-मुड़कर, हाथ हिला-हिलाकर उन्हें आश्वासन देती रही।

कौन जानता है कि एक रात्रिमें इस बागदी दम्पतिके जीवनमें क्या-से-क्या परिवर्तन हो जायगा। यह उन्हें समझमें नहीं आता था। उनके हृदयमें कुछ जाग्रत् हो गया था और वे एक अटूट स्नेह-बन्धनसे आबद्ध हो गये थे। यह स्नेह-बन्धन ही उन्हें एक दिन दक्षिणेश्वर-तक खींच ले गया और अपने जामाता श्रीरामकृष्ण परमहंसको देखते ही वे परम धन्य बन गये थे। तत्पश्चात् तो वे तीन-चार बार दक्षिणेश्वर आये थे और पुत्री तथा जामाताके लिये मिठाई तथा भेंट भी लाये थे। श्रीरामकृष्ण भी अपने इन बागदी सास-श्वसुरके प्रति अत्यन्त ममतायुक्त और प्रेमपूर्ण व्यवहार करते।

भगवान्‌की कृपा और करुणा तो देखो! अच्छे-अच्छे तपस्वियोंको वर्षोंके तपके पश्चात् भी जो प्राप्त नहीं होता, वह भगवान्‌के प्रेम और कृपाका वरदान लुटेरे दम्पतिको एक क्षणमें ही मिला था। उस अँधेरी रात्रिमें लुटेरेकी क्रूरताके ऊपर मातृशक्तिके प्रेमकी विजय हुई थी। रात्रिके घोर अन्धकारपर दिव्य प्रभातके प्रकाशकी विजय हुई थी। मानव-जीवनकी कलुषिता और दुष्टताके ऊपर भगवान्‌की परम कृपा और करुणाकी विजय हुई थी और लुटेरे दम्पतिके अन्धकारभरे जीवनमें प्रकाशवती ऊषाका आगमन हुआ था। 'अखण्ड-आनन्द'

गोरक्षाका सशक्त माध्यम—गोशालाएँ

(लेखक—श्रीदीनानाथजी झुनझुनवाला)

गाय हमारी माता है। जैसे पृथ्वी माता हमें धारण करती है, जन्मदात्री माता हमें जीवन देती है, वैसे ही गोमाता भी जीवनभर अपने दुग्धसे हमारा पोषण करती है। गोमूत्रसे आयुर्वेदमें कई ओषधियाँ बनती हैं एवं उसके गोबर-लेपनसे भूमि शुद्ध होती है। पूजा-स्थलमें गायके गोबरके लेपनद्वारा भूमिको शुद्ध करनेके उपरान्त ही पूजन किया जाता है।

कहते हैं कि भारतमें किसी कालमें दूध-दहीकी नदियाँ बहती थीं! इसका तात्पर्य यही है कि जैसे पानीकी नदीसे कोई भी जल ले सकता है वैसे ही उस कालमें दूध-दही सभी वर्गके लोगोंको सरलतासे सुलभ था। कारण, हमारे सोलह कलाओंसे पूर्ण ईश्वर भगवान् कृष्ण 'गोपालक' थे। वे स्वयं गायोंको चराते एवं अपनी मधुर वंशीकी तानसे उन्हें सुख देते थे।

आज भी भारतमें ऐसे गोपालक हो जायँ तो कोई कारण नहीं कि दूध-दहीकी नदियाँ पुनः बहना प्रारम्भ न करें एवं दूध-दही सभीको सुलभ न हो जायँ। आज हमारे बच्चे कुपोषणके शिकार इसीलिये होते हैं कि उन्हें पौष्टिक दूध नहीं मिलता।

हमारा देश महान् संतोंका देश है। सभी संत गोरक्षा-हेतु समर्पित हैं। संत विनोबाने तो सारे भारतमें गोवध रोकने-हेतु जीवन ही उत्सर्ग कर दिया। महान् संत योगिराज देवरहवाबाबा भी गोरक्षा-हेतु गोवधपर पूर्ण प्रतिबन्ध लगानेकी सरकारसे माँग करते हैं। धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजीने दिल्लीमें प्रदर्शन किया, जहाँ उन्हें लाठी-डंडेके प्रहार सहने पड़े एवं तिहाड़-जेलमें भी बंद होना पड़ा। फिर भी भारतमें न तो गोवध बंद हुआ और न हम गायोंकी रक्षा कर पाये, यह कैसा अनर्थ है!

अब यदि एक प्रयोग और किया जाय तो मेरा निश्चित मत है कि भले ही गोवध सर्वथा रुकना कठिन हो, किंतु निश्चित रूपसे बहुत कम हो जायगा। आज बंगाल एवं केरलमें गोवधपर कानूनी प्रतिबन्ध नहीं है। इन दोनों प्रदेशोंको अन्य प्रदेशोंसे भी गायें गोवध-हेतु भेजी जाती हैं। उत्तरप्रदेशसे कलकत्तामें गोवध-हेतु भेजी जानेवाली गायोंको मुगलसरायमें कई बार रोका गया एवं गाड़ियोंसे उतार लिया गया; किंतु दुःख है कि उनकी सुरक्षा हम ठीकसे नहीं कर पाये और कई गायें तो देखभालकी कमीके कारण मौतका शिकार हो गयीं!

हमारे पूर्वजोंने सारे देशमें गोशालाओंका निर्माण कराया था। परमपूज्य पं० मदनमोहनमालवीयजी महाराजने भी गोशालाओंके निर्माणमें अहम्-भूमिका निभायी। 'काशी-गोशाला' भी महामनाजीके सत्प्रयासोंका ही फल है। लगभग सभी गोशालाओंके पास गायोंको खड़ा करनेके लिये एवं चरागाह-हेतु पर्याप्त भूमि है। किंतु प्रायः गोशालाओंकी आर्थिक स्थिति कमजोर एवं व्यवस्था भी अपूर्ण है, जिसके कारण न तो उन गोशालाओंमें ठूँठ (नाठा) एवं अपंग गायोंकी क्षमताके अनुसार सेवा हो पाती है, न दुग्धका समुचित उत्पादन एवं वितरण हो पाता है और न गोचर-भूमिमें हरे चारेका उत्पादन ही होता है। ऐसी स्थितिमें एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अपंग एवं ठूँठ (नाठा) गायोंकी रक्षा कैसे हो ? गोशालाएँ कर नहीं पायेंगी और मनुष्यके पास सीमित साधन होनेके कारण असमर्थताकी दशामें वे सड़कपर छोड़ दी जाती हैं एवं जूठा खानेके लिये विवश होती हैं। यही कारण है कि वे कसाइयोंके हाथ लग जाती हैं, जिससे उनके वधका सिलसिला चलता रहता है।

हमारा मत है कि गोशालाओंकी स्थिति सुधारी जाय। सभी गोशालाओंको अपनी क्षमताके अनुसार दुधारू एवं ठूँठ (नाठा) गायोंको रखने-हेतु प्रेरित किया जाय एवं गोचरभूमिमें हरे चारेका उत्पादन कर गायोंको कम खर्चेमें पुष्ट रखा जाय; किंतु गोशालाओंकी स्थितिमें सुधारके लिये समाजसेवी एवं जीवनदानी लोगोंको आगे आना होगा। इसके लिये संत-महात्माओं एवं विद्वानोंसे विनम्र निवेदन है कि वे समाजमें ऐसे समाज-सेवियोंकी सेना खड़ी करें जो इस पुनीत कामको कर सकें।

समाजमें ईमानदार एवं कर्मठ मनुष्योंके अभावमें गोशालाओंका संचालन ठीकसे नहीं होता। आर्थिक कठिनाइयाँ भी सही संचालनमें बाधा उत्पन्न करती हैं, कारण ठूँठ (नाठा) एवं अपंग गायोंपर होनेवाला व्यय कहाँसे आयेगा ? हरा चारा उत्पन्न करने-हेतु खेतोंमें पानीकी बारहों महीने सुविधा होनी आवश्यक है, जिसके लिये उपयुक्त नलकूप चाहिये। जुताई-बुआई समयसे करनेके लिये ट्रैक्टर चाहिये। अच्छी फसलके लिये खाद चाहिये और इन सब आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये धन चाहिये। पहले व्यापारी-वर्ग गोशालाके लिये कटौती करता था, किंतु अब उस मनोवृत्तिमें भी कमी आ गयी है, जिसके कारण आयके स्रोत सूख गये हैं। सरकार भी गो-शालाओंको अनुदान देती है, किंतु उसकी अपनी भी सीमा है। अनुदानकी राशि न तो पर्याप्त होती है और न समयसे मिलती है। अतः आर्थिक समस्याका निवारण भी आवश्यक है।

यदि समाज-सेवियोंकी समस्या दूर हो जाय एवं हमारे उदारमना लोग गोशालाओंके आवश्यकतानुरूप आर्थिक सहायता कर दें तो सभी गोशालाओंकी स्थितिमें सुधार लाया जा सकता है। इससे न केवल गोरक्षा हो पायेगी, गोसेवा भी होगी तथा आज देशकी आवश्यकता 'श्वेतक्रान्ति' लानेमें भी सहायता मिलेगी। दूध-उत्पादन बढ़नेसे हमारे कुपोषणके शिकार बच्चे अकाल-मृत्युसे बचेंगे, देशवासियोंको शुद्ध दूध मिलनेसे स्वास्थ्यमें सुधार आयेगा और भारत पुनः इस स्थितिमें होगा जहाँ दूध-दहीकी नदियाँ बहने लगेंगी।

ऐसा होनेके लिये केवल संकल्प-शक्तिकी आवश्यकता है। इस महान् कार्यमें जीवनदानी लोगोंको आगे आना होगा और यह संकल्प लेना होगा कि भारतवर्षकी सभी गोशालाओंकी स्थिति सुधारी जायगी। देशकी कुछ गोशालाएँ बहुत अच्छा काम कर रही हैं। ऐसी गोशालाओंसे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य गोशालाओंकी स्थितिमें यदि सुधार किया जा सका तो मेरा निश्चित मत है कि गोसेवाके माध्यमसे गोरक्षा सम्भव हो सकेगी। अमेरिकामें भी भारतीयोंने पहली गोशालाका निर्माण कराया है। इस परियोजनाका लक्ष्य गायोंका वध रोकना है। जिस गायका हम दूध पीते हैं उसका वध करना कैसी जघन्य कृतघ्नता है। यह तो मानवताके अपराधकी श्रेणीमें आता है।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(लेखक—डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

२—श्रम

श्रमका महत्त्व—जीवनमें भोजन तथा श्रमका समान महत्त्व है, यह बात प्रायः सब जानते हैं। जब कोई व्यक्ति चिकित्सकके सम्मुख उपस्थित होता है, तब वह अपनी शक्ति तथा वजन बढ़ानेके लिये डाक्टरसे केवल आहारकी बात पूछता है। चिकित्सक भी सुरुचिपूर्वक केवल पौष्टिक खान-पान ही बताता है। वह घी, दूध, मक्खन, सूखे फल तथा मेवे सेवन करनेकी सलाह देता है; किंतु चिकित्सक तथा रोगी दोनों यह भूल जाते हैं कि उपयुक्त श्रमके बिना अच्छे-से-अच्छे पौष्टिक आहारका कोई उपयोग नहीं है। उल्टे वह शरीरके लिये भार बनकर रोग उत्पन्न करता है।

आधुनिक युगमें श्रमके अभावमें आलस्यके कारण विभिन्न प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति हुई है। ऐसे बहुत-से लोग हैं, जिन्हें जीवनमें कभी भी सच्ची भूखकी अनुभूति नहीं हुई। आज भी छोटे-छोटे शहरों तथा बड़े देहातोंमें आटेकी मशीन (चक्की), पानीका नल, कपड़ा धोनेके लिये धोबी आदि सुलभ हैं; किंतु कुछ वर्ष पहले खासकर देहातोंके अनेक घरोंमें प्रातःकाल उठते ही मधुर गीत और चक्कीकी आवाज सुनायी पड़ती थी। देहातकी बहनें पानीसे भरे हुए तीन घड़े एक साथ सिरपर रखकर घर लाती थीं, जो कशेरुकाकी मणिकाओंके लिये श्रेष्ठ व्यायाम है। वे कपड़ा धोती थीं, मक्खन निकालनेका श्रम भी करती थीं। चक्की आदि चलानेसे स्त्री-रोगोंकी उत्पत्ति कम होती थी तथा प्रसूति-कालमें भी बहनोंको कम कष्ट होता था। आजकल जिस घरमें मोटर होती है, उस घरमें डाक्टरका आना भी प्रारम्भ हो जाता है; क्योंकि मोटर रहनेके कारण पैदल चलना-फिरना लगभग बंद हो जाता है।

यों भी समाजमें श्रमकी प्रतिष्ठा नहीं है। जो कम श्रम करके अधिक पैसा कमाता है, उसे समाजमें अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। जो बेचारे किसान-मजदूर लगातार आठसे बारह घंटेतक श्रम करते हैं, ईमानदारीकी रोटी खाते हैं, उनकी समाजमें बहुत कम प्रतिष्ठा है या बिल्कुल नहीं है। योग्य श्रम करनेसे हमारी पाचन-प्रणाली मल-विसर्जन तथा पाचनक्रिया दोनों कार्योंको ठीक तरहसे करती है। शरीरको शुद्ध एवं स्वस्थ रखनेके लिये प्रत्येकके जीवन-क्रममें श्रमको उचित स्थान मिलना चाहिये।

हाँ, आमतौरसे यह सुननेको अवश्य मिलता है कि व्यायामके लिये समयका सम्पूर्ण अभाव है। सिनेमा, होटल तथा क्लबोंमें जानेके लिये सरलतासे समय निकाल सकते हैं, किंतु व्यायामके लिये समयके अभावकी शिकायत सनातन है।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि बचपनसे भोजनकी आदत होनेके कारण मनुष्यको भोजन छोड़नेमें जैसे कठिनाई होती है, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति नियमित श्रम या व्यायाम करता है उसे व्यायाम या श्रम छोड़नेमें कठिनाई होती है। एक परिवारमें जो बालक नियमित रूपसे व्यायाम करता है, वह अपने अन्य भाई-बहनोंकी तरह सामान्य आहार लेकर भी अधिक स्वस्थ रहता है। कमजोर व्यक्ति शक्तिके अनुसार नियमित व्यायाम करके सामान्य आहार लेते हुए भी पर्याप्त मात्रातक अपनी शक्ति बढ़ा सकता है।

व्यायाम अप्राकृतिक, श्रम प्राकृतिक—एक किसान या मजदूर कभी व्यायाम करता हुआ नहीं मिलता; क्योंकि उसके दैनिक काममें ही पूरा श्रम या व्यायाम हो जाता है। ज्यों-ज्यों मानवका जीवन प्रकृतिसे दूर होता गया, त्यों-त्यों उसने विभिन्न प्रकारके व्यायामका आविष्कार किया। एक किसान खोदता है, मिट्टी उठाकर फेंकता

है, वह पेड़में पानी देता है, लकड़ी तोड़ता है। चक्की चलाना, मक्खन निकालना, कुएँसे पानी भरकर लाना— ये सब स्त्रियोंके सर्वोत्तम व्यायाम हैं। हमारे दैनिक जीवन-क्रममें कुछ घंटे ऐसे बिताने चाहिये, जिससे सहज श्रम हो जाय। हमलोग दण्ड-बैठक, दौड़ने आदिका व्यायाम करेंगे, किंतु काम-काजमें संकोच होता है।

उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यायाम—सामान्यतः व्यायाम दो प्रकारके होते हैं—एक उत्पादक व्यायाम और दूसरा अनुत्पादक व्यायाम।

१. **उत्पादक व्यायाम**—इनमें वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं, जिनमें व्यायामके साथ-साथ उत्पादन भी हो। जैसे—खेती-बाड़ी, बागवानी, चक्की चलाना आदि। इसमें सर्जनका कार्य होनेके कारण शरीरके साथ-साथ मनकी प्रसन्नता भी बढ़ती है।

२. **अनुत्पादक व्यायाम**—इसमें आसन, दण्ड-बैठक, दौड़, खेल-कूद, फुटबॉल, हॉकी, बैडमिंटन आदिका समावेश होता है। हमारे गरीब देशके लिये आर्थिक दृष्टिसे उत्पादक व्यायाम ही अधिक अनुकूल हैं। व्यायामके साथ-साथ काम हो जाय तो अच्छा है।

स्नायविक तथा पेशीवर्धक व्यायाम—योगासन तथा प्राणायाम करनेसे शरीरकी मांसपेशियोंका व्यायाम कम, किंतु ज्ञान-तन्तुओंका व्यायाम अधिक होता है। योगासन करनेसे व्यक्ति शरीरसे शक्तिशाली तथा मनसे संयमी और धैर्यवान् होते हैं। इसलिये इसको सात्त्विक व्यायाम भी कह सकते हैं। कठोर श्रम, जैसे लकड़ी चीरना, पेड़ोंमें काँवड़से पानी देना या कठिन व्यायाम जैसे—दण्ड-बैठक, वेटलिफ्टिंग, दौड़ना आदि मांसपेशियोंकी वृद्धिके लिये अधिक उपयुक्त हैं।

श्रेष्ठ व्यायाम—१—जो व्यायाम या श्रम धीमी गतिसे या सहज भावसे होता है, वह शरीरके लिये अधिक लाभदायक है। तैरना, नृत्य आदि व्यायाम ज्ञान-तन्तु तथा मांस-पेशियोंकी शक्ति बढ़ानेकी दृष्टिसे उत्तम व्यायाम हैं। इन दोनोंमें सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका व्यायाम हो जाता है।

२. रोगी तथा दुर्बल मनवाले व्यक्तियोंके लिये खेलना उत्कृष्ट व्यायाम है। इसमें खेलनेके साथ-साथ मन भी प्रफुल्लित रहता है। व्यक्तिका मन खेलमें लगा रहता है और उसके मनपर व्यायाम या श्रमका बोझ नहीं रहता। जिस काम या व्यायाममें व्यक्ति स्वयंको खो देता है, उससे शरीर तथा मनका उत्तम विकास होता है। इस दृष्टिसे विभिन्न खेलोंका अत्यन्त महत्त्व है।

पसीने तथा ईमानदारीकी रोटीसे शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। इसके विपरीत जिस रोटीमें सचाई कम होगी, उसमें घी, दूध, मक्खन आदि पौष्टिक आहार होनेपर भी वह व्यक्तिके शरीर एवं मन दोनोंको रोगग्रस्त किये बिना नहीं रहेगी।

श्रम या व्यायाम खुली हवामें, खेत या मिट्टीके सम्पर्कमें प्रातःकाल करना चाहिये। अतिश्रम या अति व्यायामसे शरीर क्षीण होता है। व्यायामका चुनाव प्रत्येक व्यक्तिको अपनी शक्तिके अनुसार सावधानीपूर्वक करना चाहिये। वृद्ध, अशक्त या रोगियोंके लिये घूमना सर्वश्रेष्ठ व्यायाम है। यदि शरीरको रोग-मुक्त रखना है तो प्रत्येक व्यक्तिको शरीर-श्रम या व्यायामद्वारा दिनमें एक बार पसीनेसे स्नान कर लेना चाहिये।

व्यायाम अत्यन्त सावधानीपूर्वक क्रमशः बढ़ाना चाहिये। इससे भूख लगेगी, पाचन सुधरेगा, आहारकी मात्रामें वृद्धि होगी और स्वास्थ्यमें पर्याप्त सुधार होगा। अतएव दैनिक जीवन-क्रममें भोजन एवं श्रम या व्यायामको समान महत्त्व देना चाहिये। जिस दिन व्यायाम करनेका अवसर कम या बिल्कुल न मिले, उस दिन आहारकी मात्रा घटा देनी चाहिये या हल्का (सुपाच्य) आहार लेना चाहिये। साधारणतया सौम्य व्यायाम ही मनुष्यको अपनाना चाहिये। (क्रमशः)

साधनोपयोगी पत्र

(१)

प्रेमके नामपर

आपका कृपापत्र मिला। उत्तर लिखनेमें कुछ देर हो गयी। इधर काम भी अधिक रहा और स्वभाव-दोष तो है ही। क्षमा कीजियेगा।

आपने अपने मनकी हालत बताकर मेरी सम्मति पूछी, सो इस सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ ? यदि आपके मनमें पवित्रता है तो बहुत ही अच्छी बात है, परंतु जहाँतक मैं समझ सका हूँ——इस स्पष्टोक्तिके लिये आप क्षमा कीजियेगा——आपलोगोंका प्रेम पवित्र नहीं है। जिस प्रेममें भोग-सुखकी इच्छा है, संयमका अभाव है, कर्तव्य-विमुख होकर केवल पास रहने या देखते रहनेकी ही चेष्टा है, जरा भी मानसिक विकार है, स्वार्थ-साधनका प्रयास है और परस्पर पवित्रता बढ़ानेकी जगह इन्द्रिय-तृप्तिकी सुविधा खोजी जा रही है, वह प्रेम कदापि पवित्र नहीं हो सकता।

प्रेमका प्रधान स्वरूप है——निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग। भोग-प्रधान पाशविक इन्द्रिय-सुखका प्रयास तो पवित्र प्रेमके नामको कलङ्कित करनेवाला पाप है। प्रेम सदा देता ही रहता है, जरा भी बदला नहीं चाहता। असलमें जिस प्रेमके आधार भगवान् नहीं हैं, वह यथार्थ प्रेम नहीं है। प्रेम सदा स्वार्थशून्य है, इन्द्रिय-विकाररहित पवित्र है, भोगेच्छाके लिये उसमें स्थान नहीं। आजके मनुष्यने तो मोहको ही प्रेमका नाम दे रखा है और इसीका फल है महान् मानसिक अशान्ति और दारुण दुःख-भोग।

जिनका परस्पर पवित्र प्रेम है, उन्हें परस्पर पवित्रता, पुण्य और सदाचरणकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये। परस्पर आत्मसंयमका क्रियात्मक अध्ययन करना चाहिये। त्याग और भगवदनुरागकी वृद्धि करनी चाहिये। आपके पत्रसे पता लगता है कि आपलोगोंको ये बातें रुचतीं ही नहीं। आप तो कल ही नाश हो जानेवाली चमड़ीके रूपपर और काल्पनिक गुणोंपर मोहित हैं। कुछ ही कालमें यदि ये गुण न दिखायी दें तो आपका प्रेम कच्चे सूतके धागेकी तरह टूट जा सकता है। यह भी कोई प्रेम है ? प्रेम कभी टूटता ही नहीं; घटता भी नहीं। जितना है उतना ही नहीं रहता——वह तो प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। उसमें रूप-गुणकी अपेक्षा नहीं है, वह तो प्रेमस्वरूप अच्युत परमात्माकी पवित्र देन है। आप इस मोहका त्याग कीजिये, इसीमें भलाई है; नहीं तो प्रेमके नामपर कामके कलुषित नरक-कुण्डमें जा गिरेंगे। सावधान !

(२)

असली सद्गुण

भैया ! नाटकमें पार्ट करनेकी तरह किये जानेवाले दिखावटी सत्य, अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, ब्रह्मचर्य, दया आदिसे कुछ भी नहीं होता। उसी प्रकार नाटकीय ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम भी निरर्थक ही हैं। जैसे नाटकका राजा वस्तुतः राजा नहीं है, वैसे ही नाटकका ज्ञानी, तपस्वी और सदाचारी भी वस्तुतः वैसा नहीं है। मुझे अच्छा बोलना——लोगोंको समझाना आ गया। बड़ी-बड़ी ऊँची बातोंका उपदेश भी मैं करने लगा, परंतु यदि मैंने स्वयं उनका मर्म नहीं समझा और मेरे जीवनमें उन ऊँची बातोंने प्रवेश न किया तो मुझे क्या लाभ हुआ ? धनके झूठे आडम्बरसे कोई धनी थोड़े ही हो गया ? अतएव जीवनमें सात्त्विक गुणोंका और भक्ति, वैराग्य, ज्ञानका सच्चा विकास होना चाहिये। बड़ी लगनसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यह होता है——दूसरोंके दोष न देखकर उनके गुण देखनेसे, अपने

अवगुण देखनेसे और जी-जानसे अपने अवगुणोंको नष्ट करके सद्गुणोंके प्रकाशके लिये अथक प्रयत्न करनेसे। लोग दूसरोंके दोष देखते हैं, अपने नहीं देखते; फल यह होता है कि अपने अंदर दोष आकर भरते चले जाते हैं। सारे सद्गुण हमारे व्यवहारमें उतर आने चाहिये। बहुत बार आदमी भूलसे व्यावहारिक सत्तामें दोषोंका रहना अनिवार्य मानकर, युक्तिपूर्वक दोषोंका समर्थन करने लगता है; यह मनका बड़ा धोखा है। दोषका समर्थन किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिये और अपने एक-एक दोषको दुःसह समझकर उसका त्याग करना चाहिये। सद्गुण और सद्व्यवहार केवल कथनमात्र न होकर क्रियात्मक होने चाहिये और प्रत्येक प्रतिकूल अवसरपर सावधानीके साथ डटे रहना चाहिये, जिससे सद्गुण और सद्व्यवहारका अभाव न हो जाय। धर्मकी परीक्षा काम पड़नेपर ही होती है। एकान्तमें सच्ची भक्ति हो, वही भक्ति है। सत्य और अहिंसा—जीवनमें उतरे रहें, वही सच्चे सत्य और अहिंसाका व्रत है।

(३)

भगवद्भक्ति और दैवी सम्पत्ति

आपका कृपापत्र मिला। भगवान्के नाम और भगवद्भक्तिकी महिमा अनन्त है। आप और हम तो क्षुद्र हैं—महापुरुष भी इनकी महिमा पूरी-पूरी नहीं गा सकते। परंतु भाई साहब! आप जिस ढंगसे भक्ति और भगवन्नामका माहात्म्य बतलाते हैं, वह मुझे पसंद नहीं है। मैं तो मानता हूँ कि भगवन्नामसे पापका लेश भी नहीं रहता। फिर यह कैसे स्वीकार करूँ कि भगवन्नामका सहारा लेकर दुष्कर्म करते रहना—जान-बूझकर भी उनसे हटनेका प्रयास और अभिलाषा न करना उचित है? मेरी समझसे भगवद्भक्तिके साथ दैवी सम्पत्तिका अनिवार्य संयोग है। कोई भगवद्भक्त भी बने और बेरोक-टोक व्यभिचार और परधन-हरण भी करता रहे, घण्टे, आध घण्टे कीर्तन कर ले और दिन-रात बिना किसी ग्लानिके, खुशी-खुशी जूए, शराब, परनिन्दा, परदोष-दर्शन और दूसरोंको ठगने और कष्ट पहुँचानेमें बीतें, यह कैसी भक्ति है, कुछ समझमें नहीं आता।

यह सत्य है कि इससे भी अधिक पाप करनेवालोंको भी भगवन्नाम-कीर्तन और भक्ति करनेका अधिकार है, भगवान्का द्वार पापियोंके लिये बंद नहीं है तथा भगवन्नाम और भगवद्भक्तिसे पापी भी शीघ्र पुण्यात्मा-महात्मा भी बन सकते हैं, परंतु जिनके मनमें बुरे कर्मोंसे जरा भी ग्लानि नहीं और जो इसलिये भगवन्नाम लेते हैं कि उनके पाप ढके रहें या पाप करनेमें उन्हें सुविधा मिल जाय, उनकी दशा विचारणीय है। यह सत्य है कि भगवन्नामकी पाप-नाश करनेकी शक्ति पापीके पाप करनेकी शक्तिसे कहीं अधिक है और अन्तमें उसके पापोंका नाश करके भगवन्नाम उसे तार देगा, परंतु जान-बूझकर पाप करनेके लिये ही नाम लेना भगवद्भक्तिका आदर्श क्योंकर माना जा सकता है? मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग भगवान्की सच्ची भक्ति करते हैं, उनमें मनका निग्रह, इन्द्रियोंका वशमें होना, अहिंसा, सत्य, सेवा, क्षमा, परदुःख-कातरता, मैत्री, दया आदि गुण क्रियात्मकरूपमें प्रत्यक्ष आ जाते हैं और इनके आनेपर ही भक्ति आदर्श मानी जाती है। अतएव मेरी तो आपसे प्रार्थना है कि आप भक्तिके साथ उसकी चिरसङ्गिनी—जिसके बिना भक्ति रह नहीं सकती— दैवी सम्पत्तिका भी पूरा आदर करें, तभी भक्तिका यथार्थ विकास होगा और तभी तुरंत शान्ति मिलेगी। यह याद रखना चाहिये कि भगवद्भक्तिके बिना दैवी सम्पत्ति प्राणहीन है और दैवी सम्पत्तिके बिना भक्ति नहीं होती। इन दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रयसम्बन्ध है। भगवद्भक्तमें कैसे गुण होने चाहिये, इसका विशेष विवरण गीतामें भगवान्ने बतलाया

है । उन्हें बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे बीसवें श्लोकतक देखना चाहिये ।

(४)

गम्भीरता या प्रसन्नता

पत्र मिला, धन्यवाद । निवेदन यह है कि एक ऐसी भी आध्यात्मिक स्थिति होती है और वह अच्छी होती है, जिसमें अन्तरमें उदासी न होनेपर भी चेहरेपर उदासी-सी माल्द्म होती है । यह वैराग्यकी एक अवस्था है; परंतु चेहरेकी उदासी और गम्भीरता ही आध्यात्मिक उन्नतिकी पहचान नहीं है । गम्भीरता होनी चाहिये भीतर इतनी कि जो किसी भी प्रकारसे किसी भी बाह्य परिस्थितिमें चित्तको क्षुब्ध न होने दे । बाहर तो सदा प्रसन्नता और हँसी ही होनी चाहिये । समुद्रका अन्तस्तल कितना गम्भीर होता है, उसमें कमी बाढ़ आती ही नहीं, परंतु उसके वक्षःस्थलपर असंख्य तरङ्गें नित्य-निरन्तर नाचती रहती हैं—अठखेलियाँ करती रहती हैं । इसी प्रकार हृदय विशुद्ध, विकाररहित, स्थिर, गम्भीर और भगवत्संयोगयुक्त होना चाहिये और बाहर उनकी विविध लीलाओंको देख-देखकर पल-पलमें परमानन्दमयी हँसीकी लहरें लहराती रहनी चाहिये । मुर्दे-सा मुर्झाया हुआ मुँह किस कामका ? जिसे देखते ही देखनेवालोंका भी हृदय हँस उठे, मुखकमल खिल उठे, मुखमुद्रा तो ऐसी ही होनी चाहिये ।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि विनोदके नामपर मर्यादारहित, अनर्गल, असत्य प्रलाप किया जाय । इसका तो त्याग ही इष्ट है ।

(५)

वर्तमान दुःसमयमें हमारा कर्तव्य

आपका लिखना सत्य है कि आजकल धर्म और ईश्वरपर अश्रद्धा बड़े जोरोंसे बढ़ रही है । लोगोंमें इस तरहकी भावना पैदा हो रही है कि ईश्वर और धर्मको मानना मूर्खता और परम्परागत कुसंस्कारका परिणाम है । ऐसी अवस्थामें धर्म और ईश्वरको माननेवाले लोगोंको उचित है कि वे यथासाध्य अपने कर्तव्यका पालन करें और धर्म तथा ईश्वरके न माननेसे होनेवाले दुष्परिणामों—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंसे देशको बचानेके लिये निम्नलिखित साधनोंका उपयोग करें—

१—सभी लोग प्रतिदिन नियमितरूपसे भगवान्से प्रार्थना करें ।

२—सभी लोग प्रतिदिन भगवान्के नामका जाप करें । विश्वासपूर्वक की जानेवाली भगवान्की प्रार्थना और उनके नाम-जपसे सारे पाप-ताप नष्ट हो सकते हैं, यह निश्चित है ।

३—धनी लोग प्रार्थना और जापके अतिरिक्त खुले हाथों धर्मकी रक्षाके लिये दान करें । देखा जाय तो बहुत-से धनी तो दान करते ही नहीं, जो करते हैं वे नामके लिये प्रायः ऐसे ही कामोंमें दान करते हैं, जिनसे उलटे अधर्मकी वृद्धि और धर्मपर कुठाराघात ही होता है । धनियोंको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये । अधार्मिक भावना विशेषरूपसे फैल गयी तो उन्हें भी बहुत अधिक हानि उठानी पड़ेगी ।

४—मठाधीशों, महन्तों, गुरुओं और आचार्यों आदिको त्यागी, सच्चरित्र और विद्वान् बनना चाहिये । वे अपनेको धर्मका रक्षक मानते हैं और जब उनके ही चरित्र आदर्श न हों, कलङ्कपूर्ण हों, तब लोगोंमें धर्म और ईश्वरपर श्रद्धा कैसे रह सकती है ? गुरुवर्ग सदाचारी, पूर्ण त्यागी, ईश्वरनिष्ठ, धर्मपरायण और विद्वान् हो जाय तो धर्मकी रक्षा बहुत सरलतासे हो सकती है ।

५—स्त्रियोंको पतिपरायणा होनी चाहिये और उन्हें नयी लहरमें न बहकर सतीत्व-धर्मके आदर्शकी ही रक्षा करनी चाहिये ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

राष्ट्रिय चरित्र

हमें सर्वप्रथम १९४६ में इंग्लैंड जाना पड़ा और वहाँ फोरस्ट हिल नामक लंदनकी बस्तीमें एक अंग्रेज-कुटुम्बमें रहना पड़ा। यह समय दूसरे विश्वयुद्धके पश्चात् लगभग तुरंतका था। मैं जहाँ रहता था, उस अंग्रेज-परिवारमें पति-पत्नी और एक बारह वर्षकी उनकी पुत्री—इस प्रकार तीन प्राणी थे। पुरुष अध्यापक थे। लड़की पढ़ने जाती और स्त्री घर सँभालती।

एक दिन वहाँकी काउन्टी काउन्सिल (नगर-पालिका-जैसी संस्था) से एक पत्र आया कि लड़ाईके समय अमुक दिन, अमुक स्थानपर बम गिरा, जिसके कारण तुम्हारे घरके पिछले भागमें क्षति हुई है, तो उसकी मरम्मत करानेके खर्चका अनुमान लगाकर आँकड़ा हमें भेज दो, जिससे मरम्मत करायी जा सके।

दूसरे दिन वे शिक्षक अपने साथ एक मकानके ठेकेदारको ले आये। तत्पश्चात् हम घरके पिछले भागमें गये। उस ठेकेदारने कितनी ईटें लगेंगी, कितनी ऊँची दीवाल बनेगी, कैसा रंग होगा? यह सब अनुमान लगा दिया। उस ठेकेदारको दूसरे दिन आँकड़ा भेजनेको कहकर उन्होंने विदा किया।

दूसरे दिन सायंकालकी डाकसे उस ठेकेदारका टाइप किया पक्का आँकड़ा आ गया तो उन शिक्षक भाईने उसे पत्रके साथ काउन्टी काउन्सिलको कार्यान्वित-हेतु भेज दिया।

चार दिन बाद काउन्टी काउन्सिलसे पत्र आया कि तुम वह काम करा लेना और काम होनेपर बिल भेज देना। इस प्रकार उस ठेकेदारको काम सौंप दिया गया और काउन्टी काउन्सिलद्वारा बिल भुगतान हो गया। यह सब इतनी सरलता, स्वच्छता और शीघ्रतासे हुआ कि मुझे बहुत आश्चर्य हुआ; कारण कि अपने यहाँ भारतमें सरकारी कार्यमें देखभालमें ही कितना समय लगा देते हैं। जितना अधिक समय लगता है, पैसा भी उतना ही अधिक लगता है। अनेक प्रकारके भ्रष्टाचारोंके कारण सरलता और स्वच्छता कैसे रहेगी!

इसी प्रकारका एक और प्रसङ्ग है। है तो बहुत छोटा, परंतु बहुत कामका है। राष्ट्रकी कठिनाईके समय राष्ट्रके नागरिकके क्या भाव होने चाहिये, यह प्रत्यक्ष इस प्रसङ्गमें बताया गया है।

एक दिन दिसम्बर या जनवरी १९४६ को प्रातः बहुत बरफ पड़ी। जिन बहनके यहाँ मैं रहता था, उन बहनने मुझसे कहा—'आज तुम बाहर मत जाना, परंतु कमरेमें ही कुछ पढ़ना। मैं तुम्हें ११ बजे कॉफी बनाकर दूँगी और यह हीटर रख देती हूँ। बारह बजते ही इसे बंद कर देना; क्योंकि रेडियोपर प्रसारित हुआ था कि १२ से ४ बजेतक हीटर आदि बिजलीकी कमीके कारण नहीं जलाने चाहिये।'

उस बहनके कथनानुसार काफी पीनेके पश्चात् मैं पढ़नेमें तल्लीन था और हीटरकी गर्मीसे वातावरण भी अनुकूल था, इससे समयका ध्यान नहीं रहा। वहीं १२-२० पर उन बहनने दरवाजा खोला और हीटरको देखकर वे बोलीं—'अरे! यह क्या? तुमने हीटर १२ बजे बंद नहीं किया?' उनकी आवाजमें थोड़ी नवीनता और उपालम्भ दोनों लगे, इससे अपने विनोदी स्वभाववश मैंने उत्तर दिया—'इसमें क्या हो गया? यहाँ कौन चेक करने आ रहा है?' यह सुनकर उन बहनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी और वे बोलीं—'सरकार सबके यहाँ चौकी-पहरा थोड़े

देगी ! एक सूचना रेडियो या समाचारपत्रद्वारा दे दी जाय, वही सबको मान्य रखनी चाहिये । सभी नागरिक ऐसा करेंगे, तभी देशका काम-काज अच्छी तरह चलेगा ।'

मैं इस गम्भीरताको सानन्द, किंतु आश्चर्यपूर्वक देखता रहा । तुरंत मैंने हीटर बंद किया और कहा—'मुझसे वास्तवमें अपराध हुआ है । मुझे पढ़नेमें समयका ध्यान नहीं रहा । मुझे १२ बजे ही हीटर बंद कर देना था ।' उन बहनने अपने अश्रु पोंछे और मेरी ओर प्रसन्न चित्तसे देखती हुई वे कमरेसे बाहर चली गयीं ।

—उषाकान्त देसाई

(२)

अधिकारीका वास्तविक स्वरूप

रायकाभाई रबारीकी नीतिमत्ता सारे देशमें प्रसिद्ध थी । उनके-जैसा प्रामाणिक और व्यवहारकुशल व्यक्ति मिलना कठिन था । इसलिये किसीने महाराज मल्हारराव होल्करसे कहा कि आप उन्हें अपना अधिकारी बना लें तो सच्चे रूपमें प्रामाणिकताका प्रचार देशमें होगा ।

यह बात महाराजके गले उतरी और उसपर विचार हुआ । रायकाभाई वैसे ही ईमानदार व्यक्ति हैं और ऐसा सुन्दर अवसर मिल जाय फिर तो कहना ही क्या ? थोड़े गिने-चुने दिनोंमें ही उनके सफल व्यक्तित्व-की छाप सम्पूर्ण देशमें पड़ गयी; परंतु अन्य अधिकारियोंने रायकाभाईके विरुद्ध महाराजके कान भरने प्रारम्भ किये । प्रतिदिन सायंकाल नगरके बाहर एक झोपड़ीमें रायका-भाई जाते, यह उनका नित्य क्रम था । इसमें किसी दिन नियम-भंग नहीं होता । अन्य अधिकारियोंको यह बहाना मिल गया । प्रतिदिनकी शिकायतोंसे महाराजको भी संदेह हो गया कि अन्ततः नित्यप्रति गाँवके बाहर इस झोपड़ीमें जानेका कारण क्या है !

एक दिन अधिकारियोंके साथ ही उन्होंने रायका-भाईका पीछा किया । सभी चारों ओर छिप गये और ज्यों ही रायकाभाई झोपड़ीसे बाहर आये त्यों ही महाराज मल्हाररावने सामने आकर कहा—'सम्पत्ति छिपानेके लिये यहाँतक आना पड़ता है ?'

रायकाभाई तो चतुर व्यक्ति थे । उन्होंने उत्तर दिया—'सम्पत्ति छिपाने नहीं, छिपायी हुई सम्पत्तिका पता लगाने आना पड़ता है ।'

महाराजको महान् आश्चर्य हुआ । एक अधिकारीका इतना साहस ! और इसपर भी प्रत्युत्तर ? उन्होंने आँखें कड़ी कीं—'चलिये, अधिकारी महोदय ! बताइये वह छिपायी हुई सम्पत्ति, मैं भी तो देखूँ कि मेरे अधिकारीगण किस प्रकार सम्पत्ति संग्रह करते हैं और किस प्रकार सुरक्षित रखते हैं ?'

सब अंदर गये । अंदर एक बक्स था । रायका-भाईने उसे खोला । एक विचित्र दुर्गन्ध वहाँ फैल गयी । सबने नाक बंद की । बक्सेमें देखा तो रायकाभाईके पुराने असली कपड़े थे । रायकाभाईने बहुत ही नम्रतासे कहा—'यह मेरी वास्तविक पोशाक है । यहाँ मैं प्रतिदिन आता हूँ और इन कपड़ोंको देखकर अपनी वास्तविकताको स्मरण कर लेता हूँ । यह मेरा पुराना पोशाक ही मेरा गुरु है, जो मुझे सदा मेरे सच्चे स्वरूपका स्मरण दिलाता है ।' अन्य अधिकारियोंके मुख म्लान पड़ गये । महाराज मल्हाररावने रायका-भाईकी पीठ थपथपाकर अभिनन्दन किया और धन्यवाद दिया । आज भी कड़ी गाँवके समीप दो स्मृति-भवन खड़े हैं । एक रायकाभाईकी स्मृतिमें और दूसरा उनके गुरु—उनके कपड़ोंकी स्मृतिमें ।—'अखण्ड आनन्द'

—यशवन्त कडीकर

(३)

मेरी पुत्री है न !

कुछ वर्ष पूर्वकी बात है। उस समय मेरी नानीके शब्दोंमें मेरी स्थिति बहुत खराब थी। छः लड़कियाँ थीं और दो भाई थे। तीन लड़कियोंका विवाह हो गया था।

मेरे (स्व०) बापूजी धंधुलाके लोकल वार्डमें नौकरी करते थे। वेतन ठीक था। घरमें पाँच संतान और स्वयं दो प्राणी। सब संतानें पढ़ती थीं। उनका खर्च आता ही था।

मेरी चौथे नम्बरकी मौसी उस समय सातवीं कक्षामें पढ़ती थी। वह पढ़नेमें और दूसरे विषयोंमें भी बहुत तेज थी। उस समयकी प्रधानाध्यापिका श्रीहाजराबहनका इस लड़कीपर बहुत स्नेह था। सातवीं कक्षामें दिवालीकी छुट्टियोंतक मेरी मौसी पढ़ी। फिर घरके काम-काज तथा अन्य कारणोंसे मौसीने विद्यालय जाना बंद कर दिया। मेरी नानीके विशेष दबाव देनेपर ही पढ़ना बंद किया। मेरी मौसी उस समय दो दिन भूखी रही—पढ़नेके लिये। परंतु नहीं तो नहीं ही रही।

मौसी विद्यामतीके पाठशालामें अनुपस्थित रहनेसे हाजराबहनने विचार किया कि बीमार होगी अथवा घरके काममें फँसी होगी; परंतु अधिक दिवस बीतनेपर वे घर आ धमकीं। विद्यामती पढ़ने क्यों नहीं जाती—यह नानीसे पता चला। उन्होंने घरकी परिस्थितिकी ओर देखा और विद्यामतीके सिरपर प्यारसे हाथ फेरकर कहा—'अपनी इस बेटीको मैं पढ़ाऊँगी। परीक्षा समीप आ रही है। इसकी पढ़ाई मत बिगाड़िये। आजसे इसकी चिन्ता मुझपर छोड़ दीजिये।'

हाजराबहन प्रतिदिन उसे पढ़ातीं और आवश्यकताओंकी पूर्ति करतीं। सब प्रकारकी सहायता करतीं। परीक्षाके एक महीने पूर्वसे विद्यामती एक-डेढ़ बजे रात्रितक हाजराबहनके यहाँ रहकर पढ़ती। हाजराबहन रात्रिमें घर आकर छोड़ जातीं।

परीक्षामें विद्यामती पास हुई। हाजराबहन दौड़ती घर आयीं और मेरी नानीसे कहने लगीं—'नरबदा बहन! तुम्हारी बिंदु पास हो गयी न ! लो मुँह मीठा करो।' इतना कहकर साथमें आया पेड़ाका डब्बा सामने रख दिया। नानीकी आँखोंमें अश्रु आ गये। वे बोल उठीं—'बहन! इतना सब नहीं हो सकता। एक तो तुमने उसे पढ़ाया, बहुत-बहुत सहायता की और ऊपरसे—यह मिठाई!' यह नहीं होगा। 'इसमें क्या हुआ। मेरी बेटी है न।' हाजराबहन बीचमें बोल पड़ीं। मेरी नानी मन-ही-मन उन्हें वन्दन करती रहीं। (अखण्ड आनन्द)

—अरुण एल, त्रिवेदी

(४)

माताका हृदय

एक माता मेरे देखनेमें आयी। उसका नाम था राधाबाई। देखनेमें थोड़ी कुबड़ी है, शरीरका रंग भी कोयले-जैसा काला, परंतु मुँह सदा प्रसन्न। माथेपर बिंदी, मुँहमें पान और हाथमें थैली लिये आप चाहे जब उसे सूरतकी किसी गलीमें घूमती देख सकते हैं। एक बार मैं सूरत अपने एक मित्रके यहाँ था, तब वह वहाँ आयी। मेरे मित्रके दो बच्चे उसे देखते ही पागलकी तरह दौड़ते हुए उसकी गोदीमें चढ़ गये और वह भी उन्हें प्यार करने लगी। सुखी घरके बालक अपने माता-पितासे इतना प्रेम नहीं करते जितना वे इस बाईसे करने लगे।

बालकोंके प्रति ऐसा स्नेह देखकर मेरे मनमें उस बाईके प्रति आदरभाव हुआ कि भले इसका रूप काला हो, परंतु हृदय तो अमृत है। मेरे मित्रने बताया—यह बाई दयाकी देवी है। उस बाईके साथ एक लड़का था। मैंने कहा—'राधाबाई! तुम क्या करती हो?

यह लड़का कौन है ?' राधाबाईने कहा—'साहब ! मैं तो मजदूर आदमी हूँ । मैं तो प्रसूता हुई माताओं और जन्मे हुए बच्चोंको नहलानेका काम करती हूँ । नित्य-का १५-२० रुपया मिलता है, उसमें मेरा बीमार पति, लड़का और लड़केकी बहू भी—इन सबका काम कैसे चले ? घरका भाड़ा, अनाजका भाव आप देखते ही हैं ।'

मैंने पूछा—'लड़का कहाँ है ? और यह तुम्हारे साथवाला लड़का कौन है ?' तब राधाबाईने बताया—'साहब ! हमारी बात जाने दीजिये । पति शराबी था, अब वह चारपाई पकड़े पड़ा है, इसलिये कुछ कमाता नहीं । किसी दिन बहुत अधिक आग्रह करेगा तो शराब भी लाकर देनी पड़ती है । पान, तंबाकूका खर्च प्रतिदिनका है ही । साहब ! मेरे दुःखकी बात तो यह है कि मेरा लड़का भी शराबी है । साथ ही चोर भी । अभी कुछ दिवस पूर्व हमारे घरसे मेरी मजदूरीके बचाये पैसोंसे बनाये सात तोले सोनेके हारको चुरा ले गया । अभी हार भी मिला नहीं, वह भी जेलमें ही है । मुझे तो उसे भी छुड़ाना है ।'

'अरे राधाबाई ! तुम उसे छुड़ाकर क्या करोगी ? रहने दो जेलमें ।' मैंने कहा ! तब तो राधाबाईका हृदय बोल उठा—'अन्ततः वह मेरी गोदमें उछला है । मैंने उसे दूध पिलाकर बड़ा किया है । नित्यप्रति राममन्दिर जाकर प्रार्थना करती हूँ कि भगवन् ! इसे सुधार कर सद्‌बुद्धि दें । इसलिये कितना भी खर्च हो उसे छुड़ाये बिना मेरा हृदय कैसे मानेगा ।'

मैंने कहा—'परंतु तुम्हारे साथ यह बच्चा है, यह कौन है ?' तब राधाबाईने कहा—'इसे मैं अच्छी पाठशालामें पढ़ने भेजती हूँ । प्रतिमहीने बीस रुपये फीस भरती हूँ । पतिके शराबी रहनेसे लड़केको तो नहीं पढ़ा सकी; परंतु उसकी यह संतान सुधरे, इसलिये इसे सूरतकी अच्छी-से-अच्छी पाठशालामें पढ़ाती हूँ । अब भगवान्‌से प्रार्थना करती हूँ कि भगवान् मेरे लड़कोंका जीवन सुधारो । साहब ! सुबह ही घरसे निकलती हूँ । आठ-दस परिवारके लड़कोंको नहलाती हूँ । सायंकालतक १५-२० रुपये मिल जाता है ।' फिर आकाशकी ओर देखकर बोली—'रामजी भी कितने दयालु हैं कि मेरी-जैसी अनपढ़को भी नित्य १५-२० रुपये दे रहे हैं । जो लोग यह बात कहते हैं कि भगवान् भूखा उठाता है, परंतु भूखा सुलाता नहीं—यह बात बिल्कुल सत्य है । साहब ! गर्मियोंमें गन्नेका रस बेचती हूं, उसमेंसे भी कुछ आमदनी हो जाती है ।''

मैंने पूछा—'राधा बहन ! किसके लिये इतना परिश्रम करती हो ?' तब उसने कहा—'उस बुड्ढेको भी जीवित रखना है, मुझे उसकी भी सब सुननी और करनी है । उस जेलवालेको भी छुड़ाना और इस लड़केके लड़केको भी पढ़ाना है । माताका हृदय कैसे शान्तिसे रहे, इसलिये चाहे जितना परिश्रम करूँ—थकावट नहीं होती । यह पौत्र बड़ा होगा तो सुखी होगा—इस आशासे मजदूरी करती जाती हूँ ।' मैंने पूछ लिया—'राधाबाई ! तुम आशा रखती हो कि यह तुम्हारा पौत्र बड़ा होकर तुम्हारी सेवा करेगा ?'

'अरे साहब ! इसकी बात क्या करते हो । मेरा तो एक पैर पृथ्वीमें और एक ऊपर है । मुझे तो कुछ भी आशा नहीं है, परंतु लड़का जेलसे छूटकर नौकरी करे और पौत्र पढ़कर सुखी रहे, इतनी ही आशा है । भगवान्‌से इतनी ही प्रार्थना करती हूँ कि मेरी प्रार्थना पूर्ण करो ।' एक आर्य महिलाके त्याग और भोगको देखकर मेरा मस्तक झुक गया । (अखण्ड आनन्द)

—विजयकुमार त्रिवेदी

मनन करनेयोग्य

(१)

एक घुड़सवार कहीं जा रहा था। उसके हाथसे चाबुक गिर पड़ा। उसके साथ उस समय बहुत-से यात्री पैदल चल रहे थे; परंतु उसने किसीसे चाबुक उठाकर दे देनेके लिये नहीं कहा। वह स्वयं घोड़ेसे उतरा और चाबुक उठाकर फिर सवार हो गया। यह देखकर साथ चलनेवाले यात्रियोंने कहा—'भाई साहब! आपने इतना कष्ट क्यों किया? चाबुक हमीं लोग उठाकर दे देते, इतने-से कामके लिये आप क्यों उतरे?' घुड़सवारने कहा—'भाइयो! आपका कहना तो बहुत ही सज्जनताका है; परंतु मैं आपसे ऐसी सहायता क्योंकर लेता। प्रभुकी यही आज्ञा है कि जिससे उपकार प्राप्त हो, बदलेमें जहाँतक हो सके, उसका उपकार करना चाहिये। उपकारके बदलेमें प्रत्युपकार करनेकी स्थिति हो तभी उपकारका भार सिर-पर उठाना चाहिये। मैं आपको पहचानता नहीं, न तो आप ही मुझे जानते हैं। राहमें अचानक हमलोगोंका साथ हो गया है, फिर कब मिलना होगा, इसका कुछ भी पता नहीं। ऐसी हालतमें मैं उपकारका भार कैसे उठाऊँ?'

यह सुनकर यात्रियोंने कहा—'अरे भाई साहब! इसमें उपकार क्या है? आप-जैसे भले आदमीके हाथसे चाबुक गिर पड़ा, उसे उठाकर हम दे देते। हमें इसमें मेहनत ही क्या होती?'

घुड़सवारने कहा—'चाहे छोटी-सी बात या छोटा-सा ही काम क्यों न हो, मैं लेता तो आपकी सहायता ही न? छोटे-छोटे कामोंमें सहायता लेते-लेते ही बड़े कामोंमें भी सहायता लेनेकी आदत पड़ जाती है, इससे आगे चलकर मनुष्य अपने स्वावलम्बी स्वभावको खोकर पराधीन बन जाता है। जबतक कोई विपत्ति न आवे या आत्माकी उन्नतिके लिये आवश्यक न हो तबतक केवल आरामके लिये किसीसे किसी तरहकी भी सहायता नहीं लेनी चाहिये।'

(२)

पाठशालामें गुरुजी लड़कोंको बता रहे थे—'भगवान् सर्वव्यापक हैं। जमीन-आसमान, पृथ्वी-पाताल, जल-थल, घर-जंगल, पेड़-पत्थर, रात-दिन, सुबह-शाम ऐसा कोई भी स्थान और समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों। वे बाहर-भीतरकी सब बातें सभी समय देखते-सुनते रहते हैं, उनसे छिपाकर कभी कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' सुननेवाले विद्यार्थियोंपर गुरुजीके उपदेशका बड़ा असर पड़ा। विद्यार्थियोंमें एक किसानका लड़का भी था। पाठशालासे लौटकर जब वह घर आया, तब उसके पिताने कहा, 'चलो, एक काम करना है।' वह पिताके साथ हो लिया। किसान उसे किसी दूसरे किसानके खेतमें ले गया और बोला—'बेटा! देख, इस समय यहाँ कोई देखता नहीं है। अपनी गायके लिये मैं खेतोंमेंसे थोड़ी-सी घास काट लाता हूँ। अधिक होगी तो बेंच लेंगे। तू देखता रह, कोई आ न जाय।'

लड़का बैठ गया, परंतु सोचने लगा—'क्या पिताजी इस बातको नहीं जानते कि भगवान् सब समय, सब जगह, सभी बातोंको देखते रहते हैं।' किसान घास काटने लगा। कुछ देर बाद उसने पूछा—'बेटा! कोई देख तो नहीं रहा है।' अब लड़केको बोलनेका मौका मिल गया। उसने कहा—'पिताजी! आपके और मेरे सिवा यहाँ कोई आदमी तो नहीं है जो हमारे कामको देखे, किंतु पिताजी! मेरे गुरुजीने बतलाया था कि ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, जल-थलमें भगवान् व्यापक हैं और वे सब समय सबकी बातें देखते रहते हैं।' बच्चेकी बात सुनकर उसके पिताने उस दिनसे चोरी करना छोड़ दिया।

सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

(१) 'कल्याण'के ६०वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशनके पश्चात् भगवत्कृपासे यह वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी—६१वें वर्षका विशेषाङ्क आद्याशक्ति पराम्बा भगवतीकी अर्चनाके रूपमें 'शक्ति-उपासना-अङ्क' प्रकाशित होना सुनिश्चित हुआ है। अनादिकालसे ही भगवती शक्तिकी उपासनाका विशिष्ट महत्त्व है। वर्तमान विश्वव्यापक विषम परिस्थितिमें, सर्वत्र व्याप्त घोर अशान्ति, नैराश्य एवं आधिदैविक-आधिभौतिक परितापसे पीड़ित मानवताके परित्राणार्थ एवं स्वकल्याणार्थ सम्पूर्ण विश्वको सत्ता-स्फूर्ति, प्रकाश एवं सरसता प्रदान करनेवाली माँ भगवती-शक्तिकी उपासना और अभ्यर्थना ही सर्वसमर्थ सम्बल और सबल साधन है। इस दृष्टिसे यह विशेषाङ्क आत्म-कल्याणकांक्षी साधकों एवं भगवद्विश्वासी सम्मान्य आस्तिकोंके लिये परम उपयोगी हो सकता है। अपने प्रतिपाद्य विषय—भगवती शक्तिकी भक्ति, महिमा, उपासना और साधनाका महत्त्व प्रतिपादित करनेके साथ ही यह अङ्क साधना-मार्ग-दर्शकके रूपमें भी पथ-प्रदर्शित करनेवाला अपने विषयका अन्यतम, और सर्वोपयोगी संकलन सिद्ध होगा—ऐसी आशा है।

(२) यद्यपि गतवर्षकी तरह इस वर्ष भी कागज, स्याही आदि छपाईके उपकरणों एवं अन्य खर्चोंमें अत्यधिक वृद्धि हुई है; तथापि आगामी वर्षके लिये 'कल्याण'का वार्षिक-शुल्क पूर्ववत् ३०.०० (तीस रुपये) मात्र ही रखा गया है। वी० पी० पी० का डाकखर्च अधिक बढ़ जानेसे जिन ग्राहकोंको विशेषाङ्क वी० पी० पी० द्वारा भेजा जायगा उन्हें गतवर्षकी तरह ४.०० (चार रुपये) अधिक देने पड़ेंगे अर्थात् वी० पी० पी० द्वारा अङ्क प्राप्त करनेवाले सज्जनोंको ३०.०० के स्थानपर ३४.०० (चौंतीस रुपये) देने होंगे, अतएव ४.०० (चार रुपये)के इस अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये सभी प्रेमी ग्राहकोंसे अनुरोध है कि वे वी० पी० पी० की प्रतीक्षामें न रहकर अपना वार्षिकशुल्क-३०.०० रु० (तीस रुपये) मात्र, अग्रिम मनीआर्डर द्वारा ही भेजें। ऐसा करनेसे वे अपना विशेषाङ्क शीघ्र, सुरक्षित और निरापद प्राप्त कर सकेंगे।

(३) विदेश- (भारतसे बाहर सुदूरस्थ देशों)के लिये 'कल्याण'का वार्षिक-शुल्क पाँच पौण्ड (£5) या आठ डालर ($8) है। यह मूल्य-राशि (विदेशी-मुद्रा-अधिनियमके अन्तर्गत) विदेशी-मुद्राके रूपमें ही किसी भी विदेशी बैंकके (जिसकी शाखा भारतमें हो अथवा भारतीय स्टेट बैंकके नामका) बैंक-ड्राफ्ट अथवा ब्रिटिश-पोस्टल-आर्डर द्वारा भेजी जा सकती है। भारत-सरकारके नियमोंके अन्तर्गत 'कल्याण'के निमित्त विदेशसे प्रेषित शुल्क-राशि ही स्वीकार की जायगी। स्वदेश (भारत)से विदेश-स्थित अपने किसी स्वजन-सम्बन्धीके लिये भेजा हुआ 'कल्याण'का शुल्क स्वीकार करनेमें असमर्थता है।

(४) ग्राहकोंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें संलग्न है। अतः सभी ग्राहक सज्जनोंको मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि पिनकोड नम्बर-सहित सुस्पष्ट और सुवाच्य बड़े अक्षरोंमें लिखना चाहिये। यदि पुराने ग्राहक हों तो अपनी शुद्ध ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' कृपया अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे उन्हें अङ्कोंका प्रेषण सही, शीघ्र, सुगम और सुरक्षित होगा। मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अङ्कित न करनेसे अथवा 'पुराना' या 'नया ग्राहक' न लिखनेकी दशामें आपकी सेवामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० पी० एवं नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री चली जायगी, जिससे ग्राहक-महानुभावों तथा कार्यालय—दोनोंको ही अतिरिक्त खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी। अतः अपने एवं 'कल्याण'-व्यवस्थाके सुविधार्थ मनीआर्डर-कूपनपर आप अपनी ग्राहक-संख्या कृपया अवश्य लिखें।

(५) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश नये वर्षमें ग्राहक न रहना हो, वे कृपया इसकी सूचना एक कार्डद्वारा कार्यालयको अवश्य दे दें जिससे उनकी ग्राहक-संख्या निरस्त की जा सकेगी।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर) (उ० प्र०)

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

श्रीकृष्णाष्टकम्

भजे व्रजैकमण्डनं समस्तपापखण्डनं स्वभक्तचित्तरञ्जनं सदैव नन्दनन्दनम् ।
सुपिच्छगुच्छमस्तकं सुनादवेणुहस्तकं अनङ्गरङ्गसागरं नमामि कृष्णनागरम् ॥ १ ॥
मनोजगर्वमोचनं विशाललोललोचनं विधूतगोपशोचनं नमामि पद्मलोचनम् ।
करारविन्दभूधरं स्मितावलोकसुन्दरं महेन्द्रमानदारणं नमामि कृष्णवारणम् ॥ २ ॥
कदम्बसूनकुण्डलं सुचारुगण्डमण्डलं व्रजाङ्गनैकवल्लभं नमामि कृष्णदुर्लभम् ।
यशोदया समोदया सगोपया सनन्दया युतं सुखैकदायकं नमामि गोपनायकम् ॥ ३ ॥
सदैव पादपङ्कजं मदीयमानसे निजं दधानमुत्तमालकं नमामि नन्दबालकम् ।
समस्तदोषशोषणं समस्तलोकपोषणं समस्तगोपमानसं नमामि नन्दलालसम् ॥ ४ ॥
भुवो भरावतारकं भवाब्धिकर्णधारकं यशोमतीकिशोरकं नमामि चित्तचोरकम् ।
दृगन्तकान्तभङ्गिनं सदासदालसङ्गिनं दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम् ॥ ५ ॥
गुणाकरं सुखाकरं कृपाकरं कृपापरं सुरद्विषन्निकन्दनं नमामि गोपनन्दनम् ।
नवीनगोपनागरं नवीनकेलिलम्पटं नमामि मेघसुन्दरं तडित्प्रभालसत्पटम् ॥ ६ ॥
समस्तगोपनन्दनं हृदम्बुजैकमोदनं नमामि कुञ्जमध्यगं प्रसन्नभानुशोभनम् ।
निकामकामदायकं दृगन्तचारुसायकं रसालवेणुगायकं नमामि कुञ्जनायकम् ॥ ७ ॥
विदग्धगोपिकामनोमनोज्ञतल्पशायिनं नमामि कुञ्जकानने प्रवृद्धवह्निपायिनम् ।
यदा तदा यथा तथा तथैव कृष्णसत्कथा मया सदैव गीयतां तथा कृपा विधीयताम् ।
प्रमाणिकाष्टकद्वयं जपत्यधीत्य यः पुमान् भवेत्स नन्दनन्दने भवे भवे सुभक्तिमान् ॥ ८ ॥

इति श्रीमच्छंकराचार्यकृतं श्रीकृष्णाष्टकं सम्पूर्णम् ।

'व्रज-भूमिके एकमात्र आभूषण, समस्त पापोंको नष्ट करनेवाले तथा अपने भक्तोंके चित्तोंको आनन्दित करनेवाले नन्दनन्दनको सर्वदा भजता हूँ, जिनके मस्तकपर मनोहर मोरपंखका मुकुट है, हाथोंमें सुरीली बाँसुरी है तथा जो कामकलाके सागर हैं, उन नटनागर श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार करता हूँ । कामदेवका मान-मर्दन करनेवाले, बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रोंवाले तथा व्रजगोपोंका शोक हरनेवाले कमलनयन भगवान्‌को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने अपने करकमलोंपर गिरिराजको धारण किया था तथा जिनकी मुसकान और चितवन अति मनोहर है, देवराज इन्द्रका मान-मर्दन करनेवाले उन श्रीकृष्णरूपी गजराजको नमस्कार करता हूँ । जिनके कानोंमें कदम्ब-पुष्पोंके कुण्डल हैं, परम सुन्दर कपोल हैं तथा व्रजबालाओंके जो एकमात्र प्राणाधार हैं, उन दुर्लभ श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार करता हूँ, जो गोपगण और नन्दजीके सहित अतिप्रसन्न यशोदाजीसे युक्त हैं और एकमात्र आनन्ददायक हैं, उन गोपनायक गोपालको नमस्कार करता हूँ । जिन्होंने अपने चरणकमलोंको मेरे मनरूपी सरोवरमें स्थापित कर रखा है, उन अति सुन्दर अलकोंवाले, नन्दकुमारको नमस्कार करता हूँ तथा समस्त दोषोंको दूर करनेवाले, समस्त लोकोंका पालन करनेवाले, समस्त व्रजगोपोंके हृदय तथा नन्दकी लालसारूप श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार करता हूँ । भूमिका भार उतारनेवाले संसारसागरके कर्णधार मनोहर यशोदाकुमारको नमस्कार करता हूँ, अति कमनीय कटाक्षवाले, सदैव सुन्दर भूषण धारण करनेवाले नित्यनूतन नन्दकुमारको नमस्कार करता हूँ । गुणोंके भण्डार, सुखसागर, कृपानिधान और कृपालु गोपालको, जो देव-शत्रुओंका ध्वंस करनेवाले हैं, नमस्कार करता हूँ, नित्य नूतन लीलाबिहारी, मेघश्याम नटनागर गोपालको, जो बिजलीकी-सी आभावाला अति सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, नमस्कार करता हूँ । जो समस्त गोपोंको आनन्दित करनेवाले और हृदयकमलको विकसित करनेवाले देदीप्यमान सूर्यके समान शोभायमान हैं, उन कुञ्जमध्यवर्ती श्यामसुन्दरको नमस्कार करता हूँ । जो कामनाओंको भलीभाँति पूर्ण करनेवाले हैं, जिनकी चारु चितवन बाणोंके समान है, सुमधुर वेणु बजाकर गान करनेवाले उन कुञ्जनायकको नमस्कार करता हूँ । चतुर गोपिकाओंके मनरूपी सुकोमल शय्यापर शयन करनेवाले तथा कुञ्जवनमें बढ़ती हुई दावाग्निको पान कर जानेवाले श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार करता हूँ । मेरे ऊपर ऐसी कृपा हो कि जबतक जैसी भी परिस्थितिमें रहूँ, सदा श्रीकृष्णकी सत्कथाओंका गान करूँ । जो पुरुष कृष्णाष्टक या इस श्रीकृष्णाष्टक—इन दोनों प्रामाणिक अष्टकोंका पाठ या जप करेगा, वह जन्म-जन्ममें नन्दनन्दन श्यामसुन्दरकी भक्तिसे युक्त होगा ।'